सङ्कीर्त्तन-मीमांसा

एवं

वर्णाश्रम-मर्यादा

|| નારાયણાખિલગુરો ભગવન્નમસ્તે ||
સમરીતિનેહાતેડા: પરબ્રહ્મ સનાતન: |
જાયતાજ્ઞાનભીનાશે વેદવેદ્યો મહામતિ: ||
બારીતો નીતો ગ્રન્થોડયમ્ ... ઠાકુરનાગપાલૈ:
08/04/2015

धर्मसम्राट्

श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज

सम्पादन

स्वामी श्री सदानन्द सरस्वती

(श्री वेदान्ती स्वामी)

श्री:

सम्पादकीय

आजकल 'भगवन्नामसङ्कीर्त्तन' का बड़ा प्रचार है, यह देश का सौभाग्य है। परन्तु देखा गया है कि प्राय: इसकी ओंट में लोग वर्णाश्रम मर्यादा का उल्लंघन करके सन्ध्या-वन्दनादि श्रौतस्मार्त कर्म तक छोड़ बैठते हैं। सङ्कीर्त्तन का रहस्य क्या है और वर्णाश्रम-मर्यादा से उसका क्या सम्बन्ध है, इस ओर ध्यान ही नहीं जाता है। फल यह होता है कि जितना लाभ होना चाहिए, नहीं हो पाता। इस निबन्ध में श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य पूज्यपाद धर्मसम्राट् स्वामी हरिहरानन्दसरस्वती श्री करपात्रीजी महाराज ने इसी गूढ़ विषय की शास्त्रीय विवेचना की है। भक्तों की सुविधा के लिए इसका यह संस्करण प्रकाशित किया गया है।

आशा है कि सङ्कीर्त्तन-प्रेमी भक्तगण इसे पढ़कर लाभ उठावें।

(श्री वेदान्ती स्वामी)

विषयानुक्रमणिका

सङ्कीर्त्तन-मीमांसा ५
वर्णाश्रम मर्यादा ३५
साङ्गवेदाध्ययन १००

सङ्कीर्त्तन-मीमांसा

प्रथम परिच्छेद

ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं कलिमलप्रध्वंसनं चाव्ययं
श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुसुन्दरवरं संशोभितं सर्वदा।
संसारामयभेषतं सुमधुरं श्रीजानकीजीवनं
धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम् ।।१।।

उन अचिन्त्य अद्भुत महामहिम-वैभवशाली जगन्नाटक-सूत्रधार 'नटनागर' को कोटिशः धन्यवाद है, जिनके परम पवित्र मंगलमय नामोच्चारणमात्र से जननमरणाऽविच्छेदलक्षण[1] अनेकानर्थसंकलित भीमभवार्णव से पापकृत्तम (अत्यन्तपापिष्ठ) प्राणी भी अनायास ही विमुक्त हो जाते हैं, और जो स्वयं प्रेमपाशाकृष्ट पदारविन्द होकर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत ब्रह्मादि देवशिरोमणियों को नचाने वाली अघटितघटनापटीयसी मायामृगी को अपने भ्रुकुटिविलास से नचाने वाले होकर भी-

'हृदयाद्यदि चेद् यासि पौरुषं गणयामि ते'[2]

इस प्रकार भक्त मनोभावना के अनुकूल ही अपने अचिन्त्य-अनन्त ऐश्वर्य को भूलकर प्रणयरशना[3] से ही नहीं, वरन् सुरेन्द्राद्यभिलषित सौभाग्यशालिनी श्री यशुमति के ग्राम्यपाश से भी बँध गये।

---

१. जन्ममरणपरम्परारूप।

२. अर्थात् ...'हिरदय से जदि जांहुगे, मरद वदौंगो तेहि'।

३. प्रेमपास।

कृतादियुगीन,[1] सारज्ञ, पुरुषधौरेयो के कलियुग मे जन्म [illegible] उत्सुकता का एकमात्र हेतु सहृदय महानुभावों के परम प्रेमास्पद वर्त[illegible] कालीन 'भगवत्ससङ्कीर्त्तन' के धूमधाम से नवनीलनीरद की सुमधुर ध्व[illegible] से मयूर के समान किसका हृदय प्रफुल्लित न होगा? परन्तु, मध्य[illegible] मध्य में अशनि-पात[2] के समान श्रीभगवन्नामाऽपराध, तथा तन्निमित्त विक्षुब्धसमुदायान्तर से प्रक्षिप्त 'दुस्तर्ककलङ्कपङ्क' से किसका हृदय क्षुब्ध न होगा, और श्रीमद्भावन्नाम-माहात्म्य के उपजीव्य-अर्थात् प्रख्याति के एकमात्र कारण शास्त्र, एवं शिष्ट पुरुषों के आदेशोपदेशों की अवहेलनाओं से भगवन्नाम के शास्त्रप्रतिपाद्य फलों से वंचित ही नहीं, प्रत्युत्युनाम चिन्तामणि के दुरुपयोग से अतर्कित अवनति के उन्मुख हुए प्राणियों को देख कर किसका मानसपङ्कज परिम्लान न होगा?

पाठकवृन्द ! आज उन्हीं हृदयतन्त्रीशक्ति-संचालक लीलामय की लीलाशक्ति का विधेय यह लेखक उस मानसम्लानि के परिमार्जन के लिये कुछ प्रयत्न में नियुक्त हुआ है। आशा है कि अस्वेप्सित अतर्कित लीलामय की इस लीला से केवल लेखक की ही मानसम्लानि का मार्जन नहीं होगा, किन्तु भव्य मति वाले अशेष सज्जनवृन्द की सुपरिष्कृत मति प्रमादरहित हो यथाशस्त्र भगवन्नामरमामृतास्वाद का सौभाग्य प्राप्त करेगी। अस्तु,

सर्वप्रथम हम संक्षेप में श्रीभगवन्नाम के माहात्म्यावद्योतक वाक्यों की अनन्यपरता और 'नाम-सङ्कीर्त्तन' की अन्यागंत्वेन एवं स्वप्राधान्येन अर्थात् कर्मादिकों के अङ्गरूप से अथवा स्वतंत्ररूप से अनुष्ठेयता का प्रतिपादन करेंगे। तत्पश्चात् अधिकारी और अधिकारी के विशेषण अर्थात् अधिकारी के लिए अपेक्षित पथ्यपरिपालनस्थानीय अवश्यकर्त्तव्य अंश

---

१ सत्य श्रेता आदि युगों के।

२ वज्रपात।

का अनुष्ठान के लिए एवं कुपथ्य परिवर्तन स्थानीय दोषो का परित्याग करने के लिए वर्णन करेंगे।

श्रीमद्भगवन्नाम का माहात्म्य श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणो मे निम्नलिखित प्रकार से बहुधा वर्णित है-

श्रुति-''मर्त्या अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे'' ''विप्रासो जातवेदस: आस्य जानन्तोऽपि विवक्तन'' अर्थात् मरणधर्मा हम लोग अमृत, अविनाशी और व्यापक आप के नाम को यज्ञ, तप आदि से भी भूरि (अधिक) श्रेष्ठ मानते हैं।

हे विप्रो ! प्राप्तवेद (वेदज्ञ) आप लोग इस महानुभाव विष्णु के सर्वनमस्कारयोग्य सर्वात्मता 'विष्णु' इस अभिधान (नाम) को जानन्त:- पुरुषार्थप्रद जानते हुए आ समन्तात् विवक्तन वदत-सङ्कीर्तयत सङ्कीर्त्तन करो।

'यस्याऽङ्के शिर आधाय लोक: स्वपिति निर्वृत:'। (भा० ६/३/५)

अर्थात् जिस जगत्पिता परमेश्वर की गोद में सिर रखकर प्राणी सर्वथा निर्भय हो जाता है।

''अयं हि कृतिनिर्वेशो जन्मोठ्यं हसामपि।
यद् व्याजहार श्रीविष्णोर्नाम स्वस्त्ययनं हरे:।।''

(भा० ६/२/७)

'एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम्।
यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम्।।''

(भा० ६/२/८)

अर्थात् इसने विवश होकर भी भगवन्नामोच्चारण करने से करोड़ों जन्मो के पापों का प्रायश्चित कर डाला है। श्रीहरि का नामसङ्कीर्त्तन केवल पापों का प्रायश्चित ही नही है, अपितु स्वस्त्ययन भी है, अर्थात् मोक्षसाधन भी है, क्योकि-

"सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वय्।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति।।"

(पा० गी० ६६)

एक बार भी जिसने 'हरि' इन दो अक्षरों का उच्चारण किया वह मोक्ष के लिए बद्धपरिकर (तैयार) हो गया।

"सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः।।
ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः सामवेदो ह्यथर्वणः।
अधीतास्तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयम्।।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रान्त्यजादयः।
सर्वपापविनिर्मुक्तास्तेऽपि यान्ति सनातनम्।।"

अर्थात् सभी पापियों के लिए भगवान् का नामसङ्कीर्त्तन सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित्त है, नामसङ्कीर्त्तन करने वाले में भगवान् की आत्मीयता हो जाती है। जिसने 'हरि' इन दो अक्षरों का सङ्कीर्त्तन किया, उसने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चारों का अध्ययन कर डाला। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्रियाँ, शूद्र और अन्त्यज ये सभी सब पापों से छुटकारा पाकर भगवान् के चरणों में प्राप्त होते हैं।

'विप्रासः जातवेदसः' इत्यादि मन्त्रों से प्रतीत होता है कि वेदज्ञ ब्राह्मण के लिए भी भगवन्नाम परम श्रेयस्कर है। इससे केवल वेदानधिकृत शूद्र आदि के लिए ही भगवन्नाम सङ्कीर्त्तन है; यह नहीं कहा जा सकता।

"नाम्नोऽस्ति यावती शक्ति पापनिर्हरणे हरेः।
तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः।।"

अर्थात् पापों को दूर करने की नाम में जितनी सामर्थ्य है, पापी जन उतना पाप कर ही नहीं सकते।

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई।
राम न सकहिं नाम गुण गाई।।' इत्यादि, इत्यादि।

एवं सम्पूर्ण शास्त्रो के तात्पर्य को जानने वाने श्रीशङ्कराचार्य प्रभृति आचार्यवर्यो ने विष्णुसहस्रनामभाष्य आदि ग्रन्थों मे नाममाहात्म्य का शास्त्रानुसार वर्णन किया है। शास्त्रो में नाम सङ्कीर्त्तन अङ्गरूप से और प्रधानरूप से-स्वतन्त्ररूप से भी पाया जाता है।

'एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगों भगवति तन्नामग्रहणादिभिः।।''

(भा० ६/३/२२)

भगवन्नामसङ्कीर्त्तन आदि से भगवान् में भक्ति रखना ही संसार में मनुष्यों का सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा गया है।

''भक्त्या संजातया भक्त्या'' (भा० ११/३/३१)

(भक्त्या गुणनामश्रवणकीर्तनादिलक्षणया साधनभक्त्या) यहाँ एक भक्तिपद नाम सङ्कीर्त्तन आदि साधन भक्ति परक है और दूसरा प्रेमलक्षणा साध्य-परक है, इत्यादि कतिपय स्थलों मे भगवन्नामसङ्कीर्त्तन का भगवद्भक्ति के अङ्ग रूप से वर्णन किया है।

'सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्' इत्यादि कतिपय स्थलों में स्वप्रधानरूप से भी पापनाश के लिए भगवत्सङ्कीर्त्तन का विधान पाया जाता है।

'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार की है। प्रथम-'भज्यते-सेव्यते-भगवदाकाराकारितं क्रियतेऽन्तःकरणमनया' अर्थात् भगवदाकराकारित किया जाय अन्तःकरण जिससे।

दूसरा 'भजनं भगवदीयगुणगरिमश्रवणादिना द्रुतस्य चेतसः अचिन्त्यानन्तसौन्दर्यमाधुर्यादिसुधामङ्गलमयश्रीमूर्त्याकारापत्तिः

अर्थात् भगवदीय गुणगण-श्रवण आदि से द्रवीभूत मन की भगवत्स्वरूपाकारापत्ति।

प्रथम व्युत्पत्ति से साधनतया वैधी भक्ति विवक्षित है और दसरी

"मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भोसऽम्बुधौ।।"

अर्थात् मेरे गुणों के श्रवणमात्र से सब भूतों के घट-घट में वास करने वाले मुझे (अन्तरात्मा) में समुद्र में गङ्गाजल के गमन की भाँति अटूट जो मनोवृत्ति है वही भक्ति कहलाती है।

"द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते।। (भा० ३/२०)

अर्थात् भगवदीय गुणगणों के श्रवण, कीर्तन आदि से द्रुत हुए चित्त की भगवदाकाराकारित स्निग्ध मानस-वृत्ति ही साध्य भक्ति है, इसी भक्ति का स्वरूप-

"देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या।।"

गुणलिङ्गानाम् - सत्त्वादिगुण हैं लिङ्ग- अभिव्यञ्जक उपाधि रूप से जिनके और आनुश्रविककर्मणाम् आनुश्रविक वैदिक अग्निहोत्रादि कृत्य हैं प्राधान्येन कर्म (आराधना) जिनके ऐसे, ब्रह्मा आदि देवों (तीनों देवताओं) के बीच सत्त्व एव विशुद्धसत्त्वापाधौ विष्णौ एवं विशुद्ध सत्त्वयोग से निखिल कल्याण गुणगणास्पद मङ्गलमय श्रीमूर्तिरूप से प्रकट 'विष्णु' में ही निश्चल मनवाले पुरुष की गङ्गाप्राहवत् स्वारसिकी मानस-प्रवृत्ति को भक्ति कहते हैं:-

अर्थात्-आनुश्रविकर्माराध्य सत्त्वादि-गुणवाले देवताओं के मध्य में सत्त्वोपाधिक विष्णु में जो स्वाभाविकी 'मनोवृत्ति' है, उसे भक्ति कहते हैं।

'हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्'

इत्यादि स्थलों में त्रिमूर्त्यन्तर्गत विष्णु को निर्गुण कहा है। इसीलिए विष्णुभक्ति को भी-

'लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्यु्दाहृतम्'

के अनुसार निर्गुण कहा है। वस्तुतः बिम्ब-चैतन्य स्वरूप परमात्मा का ही-

''वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते[१]।।''

(गु० मो० १६३)

इस उक्ति के अनुसार तत्तत् ग्रन्थों में शिव, विष्णु आदि शब्दो से प्रतिपादन है। अतः शिवपुराण आदि प्रतिपाद्य शिव भी विशुद्ध सत्त्व के योग से ही मङ्गलमय विग्रह[२] धारण करते हैं, अतः वे भी निर्गुण हैं।

इसलिए कार्यान्तःपाती तत्तत् ब्रह्माण्डान्तर्गत रुद्रादि ही, तम आदि उपाधि योग से सगुण हैं।

अथवा पूर्व श्लोक का अर्थ यो भी हो सकता है कि गुणलिङ्गानाम् गुण-तद्विकार शब्दादि विषय के लिङ्ग-प्रकाशक, 'आनुश्रविक कर्मणाम् जिनका वैदिक ही कृत्य है, अर्थात् वैदिक कर्मो द्वारा मृत्युपदवाच्य परा-रुङ्मुखता से व्यावृत्त, ऐसे देव अर्थात् इन्द्रियों की विशुद्ध सत्त्वमय भगवदुन्मुखी प्रवृत्ति ही भक्ति है। ऐसी अन्याभिलाषिताशून्य आनुकूल्येन भगवदाकार वृत्तिरूपा भक्ति, सालोक्यादि मुक्ति से भी श्रेयसी हैं।

क्योंकि विचार आदि प्रयत्नातिशय के बिना भगवच्चरणारविन्दमकरन्द भृङ्गायमान मन से प्रभुप्रसादैकमात्र साध्य भगवत्साक्षात्कार से गुणमय पञ्चकोशों का भस्मीभाव हो जाता है, इसीलिए कहा है-

''अनिमित्ता भगवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा।।''

---

१. अर्थात् वेद, रामायण, पुराण और महाभारत के आदि, मध्य और अन्त में सर्वत्र हरि भगवान् का (ही) कीर्तन है।

निष्काम भगवद्भक्ति मोक्ष से भी श्रेष्ठ है, जैसे अग्नि में डाली हुई वस्तु को अग्नि भस्म कर देता है, वैसे ही उक्त भक्ति भी गुणमय पञ्चकोशों को भस्म कर देती है।

'कथञ्चिद् यदि वाञ्छति।'
'सर्व मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।।''

(भा० ११/२०/३३)

इत्यादि, इत्यादि। ऐसी परम दुर्लभ भगवद्भक्ति वर्णाश्रमधर्माऽनुष्ठानपुरस्सर साधनस्थानीय नवधा-भक्ति से प्राप्त होती है।

नवधा भक्ति-

''श्रवणं कीर्तनं विष्णोःस्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।''

इत्यादि है। इन में दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन उत्कृष्ट कोटि के महापुरुषो को ही सुलभ हैं। श्रवण, स्मरण आदि में भी बाह्य साधनों की और पाण्डित्य की अपेक्षा होने से, सभी प्रवृत्त नहीं हो सकते। कीर्तन भी दो प्रकार का है- (१) गुण-कीर्तन' (२) 'नामकीर्तन'। पाण्डित्य की अपेक्षा होने से गुणकीर्तन में भी सब लोगों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अत: नामकीर्त्तन सुगम और साधनानपेक्ष होने से ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय से लेकर अन्त्यावसायी ही नहीं, अपि तु कीट, पतङ्ग आदि का भी कल्याण करने वाला है।

यदि कहा जाय कि भगवन्नाम-माहात्म्य प्रतिपादक वाक्य अर्थवाद होने स्वार्थ में प्रमाण नही हैं, अपितु जिस देवता के नामोच्चारणमात्र से प्राणी मुक्ति हो जाते हैं, आमरण उसकी उपासना करने से तो कहना ही क्या है? इस प्रकार वे वाक्य उपास्य देवता के स्तावक हैं, क्योंकि मीमांसकों की ऐसी मर्यादा है कि लिङ्गादि विधिप्रत्यय-विरहित सिद्धार्थप्रतिपादक वाक्य, अक्रियार्थक होने से स्वार्थ में तात्पर्य न रखकर स्वसन्निहित

विधिप्रत्ययगत लिङ्गादिवाच्य भावना की इतिकर्तव्यता की आकांक्षा को पूर्ण करने के कारण विधि के साथ एकवाक्यतापन्न होकर विधेयार्थस्तावकत्वेन उपयुक्त होते हैं-

''आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्''

(जै० सू० १/२९)

''विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः''

(जै० सू० १/२७)

अर्थात् भगवान्नाम माहात्म्य के वचन अर्थवाद हैं, उनका स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है, किन्तु भगवान् की उपासना की स्तुति में ही उनका तात्पर्य है, क्योंकि कार्यान्वियी सिद्ध अर्थ के प्रतिपादन में वेदों का तात्पर्य नहीं होता, सिद्धार्थप्रतिपादक अर्थवादों का भी विधिप्रत्ययलिङ्गादिसाध्य पुरुष प्रवृत्ति में ही स्तुति द्वारा उपयोग होता है।

तो इसका उत्तर यह है कि लिङ्गादि प्रत्यय न होने से अर्थवादता नहीं होती, क्योंकि ''आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति'' यहाँ लिङ्गादि न होने पर भी अपूर्व द्रव्यदेवता संयोग से याग की विधि होती है, इसी तरह-

''नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः''

इत्यादि वचनों को, अपूर्व साध्यसाधन भाव के प्रकाशन होने से, विधायक ही मानना चाहिए, अर्थवाद नहीं।

किञ्च- यजति, जुहोति इत्यादि वर्तमानापदेश वाक्य भी अपूर्व होने से जैसे, विधि वाक्य है, वैसे ही हरिनामकीर्त्तन की स्वतन्त्र विधि भी हो सकती है, तब अन्यशेषत्वेन (अन्य के अङ्गरूप से) विधिकल्पना, या फलश्रुति में अर्थवादत्व की कल्पना व्यर्थ है।

किं बहुना, हरिनामकीर्त्तन फलश्रुति को अर्थवाद भी मान लें तो भी मानान्तर से अविरुद्ध होने से 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' इत्यादिवत् उसका स्वार्थ में प्रामाण्य ही है। क्योंकि ''तदुपर्य्यपि वादरायणः'' (ब्रह्मसूत्र)

इत्यादि देवताधिकरण के भाष्य में कहा गया है कि यद्यपि मन्त्र अर्थवादों का मातात्पर्य द्रव्य, देवता स्मारकत्व और विधेयार्थ स्तावकत्व में ही है, तथापि मानान्तर से अविरुद्ध अवान्तर तात्पर्य के विषयभूत शक्यार्थ स्वरूप में भीमाण्य है, और मानान्तराधिगत या मानान्तर विरुद्ध शक्यार्थ में अनुवादकता या गौणार्थकता मानी जाती है। उदाहरणार्थ-

'वज्रहस्त: पुरन्दर:' यह मानान्तर से अविरुद्ध होने से प्रमाण है। 'यजमान: प्रस्तर:' यह मानान्तर विरुद्ध है, अत: गौणार्थक है। तद्वत् जैसे पाप शास्त्रैकसमधिगम्य होने से प्रत्यक्ष आदि प्रमाण का अविषय है, वैसे ही पा क्षय भी प्रत्यक्ष का अविषय है। अत: तदविरुद्ध होने से भगवन्नामोच्चारण से पापक्षय का प्रतिपादक शास्त्र, अर्थवाद होने पर भी स्वार्थ में प्रमाणभूत ही है।

इस पर यदि कोई शङ्का करे कि जब भगवन्नामोचारणमात्र से ही समस्त पाप क्षीण होते हैं, तो द्वादश वार्षिकादि प्रायश्चित्त विधायक मन्वादि स्मृतियाँ व्यर्थ पड़ती हैं। एवं ऐसा भी नहीं कर सकते कि उक्त प्रायश्चित्त विधायक स्मृतियाँ दुर्बल हैं, क्योंकि उनका स्वार्थ में ही पर्यवसान है।

इसके विपरीत नामकीर्त्तनविधायक पुराणेतिहासादि-वचन स्वार्थ में पर्यवसित न होकर महातात्पर्य के विषयीभूत उपासना में पर्यवसित हैं, अतएव-

"तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो बलीयाँसि।"

(तत्प्रधान वचन अतत्प्रधान वचनों से प्रबल होते हैं। अर्थात् स्वार्थ-पर्यवसायी वचनों से प्रबल होते हैं)

इस न्याय से स्वार्थ में पर्यवसित तत्प्रधान द्वादशवार्षिक प्रायश्चित्त के विधायक अतत्पर पुराणवचन दुर्बल हैं। अत: प्रबल स्मृति से विरुद्ध पौराणिक नामोच्चारण अर्थवाद ही है, अतएव अन्य स्थलों में कर्माङ्गत्व रूप से ही नामोच्चारण विहित है। उदाहरणार्थ—

"प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम्।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः।।"

(भा० ६/१/१८)

अर्थात् जैसे मदिरा के घड़े को गङ्गा आदि नदियाँ पवित्र नही कर सकतीं; वैसे ही भगवद्-विमुख प्राणी को प्रायश्चित्त पवित्र नहीं कर सकते। जैसे प्रयाजादिरहित दर्शादि निष्फल हैं, वैसे ही भक्तिरहित प्रायश्चित्त निष्फल हैं, किन्तु साङ्ग दर्श आदि की भाँति भक्तियुक्त ही प्रायश्चित सफल हैं।

"यस्य स्मृत्या च नामोक्त्य तपोयज्ञक्रियादिषु।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्।।"

जिसके स्मरण और रामसङ्कीर्त्तन से तप, यज्ञ आदि में हुई त्रुटि की सद्यःपूर्ति हो जाती है, उन अच्युत भगवान् को मैं प्रणाम करता हूँ। (इत्यादि) तो इसका समाधान यह है कि जैसे—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" (कठ०)
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" (गीता १५/१५)

इत्यादि वचनों से वेदों का परम तात्पर्य अशेषविशेषातीत पर ब्रह्म में है, तो भी अवान्तर तात्पर्य तत्-तत् कमादि में भी माना जाता है, कर्मबोधक श्रुति अनादरणीय नहीं है, वैसे ही वेदार्थ के निर्णायक पुराणेतिहास का भी महातात्पर्य चाहे परमात्मोपासना में हो, तो भी अवान्तर तात्पर्य समस्त पापक्षय के उद्देश्य से विहित नामसङ्कीर्त्तन मे ही है, अतः वह दुर्बल नहीं है। स्वरूप से भी इतिहास पुराण दुर्बल नहीं हैं, क्योंकि-

अर्थात् इतिहास और पुराण पाँचवा वेद कहा जाता है। इत्यादि वचनों से तथा-

'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम्'

अर्थात् ऋग्वेद आदि शास्त्र इस महान् भूत के निःश्वास हैं, इत्यादि काण्वश्रुति में इतिहास और पुराण, स्पष्टतया निर्दिष्ट होने से वेदरूप ही है। इसी से-

''इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहये।'

इतिहास और पुराणों से वेदार्थ का उपबृंहण (पूर्ति या विस्तार) करना चाहिये। ऐसे वचनों द्वारा इतिहास और पुराण वेदार्थ के उपबृंहक माने गए हैं। कनकवलय (सुवर्ण कंकण) का उपबृहंण असंभव है। यदि कहा जाय कि पुराणेतिहास वेदरूप ही हैं, तो उनका वेदपार्थक्येन निर्देश क्यों किया? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि अन्यान्य अंश में उभयत्र समानता है, तथापि इतिहास आदि से वेद के भेदव्पदेश के प्रयोजक आनुपूर्वी का परिवर्त्तन और स्वर का नियम आदि है, अतः पार्थक्य भी है। अतएव पञ्चम' यहाँ पर संख्या पूरणार्थ प्रत्यय सजातीय विजातीय तथा उभयत्र हो सकता है।

तस्मात्- 'यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत्ववचित्।

अर्थात् जो वस्तु इस (महाभारत) में है, वही अन्यत्र भी है और जो यहाँ नहीं है वह कही नहीं है।

''वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना।।''

अर्थात् वेदवेद्य परम पुरुष श्रीरामचन्द्र जी के अवतार ग्रहण करने पर 'वेद' श्री वाल्मीकि मुनि द्वारा रामायण रूप में प्रकट हुए।

''वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने!।
वेदाः प्रतिष्ठिता देवि, पुराणे नात्र संशयः।।''

इत्यादि वचनों द्वारा काण्डभेद से वेद के समान स्वार्थपर्यवसित इतिहास पुराणों का अतत्प्रधानत्वेन दुर्बलत्व असिद्ध है। अतः स्मृतिविरुद्ध होने से नाममाहात्म्य की गौणार्थकता भी सिद्ध नहीं हुई। वस्तुतस्तु-

"तस्माद् भारत ! सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यश्चेच्छताऽभयम्।।"

अर्थात् हे भारत ! इसलिये अभय चाहने वाले पुरुष को सब के आत्मा भगवान् हरि का श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करना चाहिये। इत्यादि स्थलों में भगन्नाम-संङ्कीर्त्तन की विधि सुस्पष्ट है।

यदि कहिये कि स्मार्त्त प्रायश्चित के साथ समुच्चयविधया हरिनाम कीर्त्तन की विधि है, सो भी ठीक नहीं क्योंकि-

"प्रायश्चित्तानि चीर्णानि तपःकर्मात्मकानि च।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम्।।"

इत्यादि वाक्यों में स्मार्त द्वादशवार्षिकादि प्रायश्चित्त से भी कृष्णानुस्मरण श्रेष्ठ कहा गया है वह कथन केवल अङ्गता में उपपन्न नहीं होता, अतः समस्त स्मार्त्त कृत्यों में अङ्गत्वेन उपयुक्त होता हुआ भी भगवन्नाम कीर्तन सर्वथा स्वतन्त्र भी है।

इसलिए-

"क्वचिन्निवर्ततेऽपार्थ मन्ये कुञ्जरशौचवत् ।।"

(भा० ६/१/१०)

अर्थात् प्रायश्चित्त करके कभी मनुष्य पापाचरण से निवृत्त हो जाता है, और कभी पाप करने लगता है। इसलिये मेरी समझ में प्रायश्चित्त गजस्नान के समान व्यर्थ है। ऐसी शङ्का करके (इसका) उत्तर दिया है-

"कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते।
अविद्वदधिकारित्वात् प्रायश्चित्त विमर्शनम्।।

अर्थात् कृच्छ्रचान्द्रायण आदि प्रायश्चित्तों से पापो की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उनके अधिकारी अज्ञानी ही होते हैं सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित्त तो ज्ञान ही है। एक ओर प्रायश्चित्त करके जीव (अपने पापों का प्रक्षालन करता है, और दूसरी ओर पुनः पाप-पङ्क में फंसता है, अतः कुञ्जरशौच के समान प्रायश्चित व्यर्थ है।

राजा परीक्षित् की इस शङ्का का समाधान श्रीशुकदेवजी करते है- कर्म से कर्म का आत्यन्तिक निर्हार नहीं होता क्योंकि प्रायश्चित्तो से 'नाधर्मजं तद्धृदयम्' अधर्मजन्य संस्कार दूर नहीं होता। वह तो मुख्य प्रायश्चित्त तप, ब्रह्मचर्य, शम, दम, त्याग, सत्य, शौच, यम, नियम आदि से समुत्पन्न तत्त्वज्ञान ही से दूर होता है। अथवा-

'तदपीशाङ्घ्रिसेवया'

'केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः।
अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः।।'

(भा० ६/१/१५)

अर्थात् भगवद्भक्ति में डूबे हुए कुछ लोग, जैसे सूर्य कुहरा का नाश कर देते हैं, वैसे ही केवल भक्ति द्वारा ही सम्पूर्ण पापों का नाश कर देते हैं।

इत्यादि वचनों से कीर्तनादि लक्षण भक्ति अधर्मज संस्कार का नाश करती है। 'केवल' पद से समुच्चय पक्ष का भी खण्डन हो गया, क्योंकि 'केवल' यह पद भक्ति में रहने वाली कारणता की पुष्कलता (पर्य्याप्ति) का अवद्योतक है, यानी केवल भक्ति ही अन्यानपेक्ष अघर्मज संस्कार को भी दूर करने मे समर्थ है। अत: साधनान्तर-साहित्य या साधनान्तराभाव विशिष्ट भक्ति में रहने वाली पुष्कलता (भक्ति की पूर्णता) है, तो यत्किञ्चित् साधन रहने पर साधनान्तर-साहित्य या साधनान्तराऽभाव विशिष्टत्वरूप पुष्कलता भक्ति मे नहीं रहेगी, ऐसी दशा में पापनाश में 'भक्ति' में नहीं रहेगी, ऐसी दशा में पापनाश में 'भक्ति' पुष्कल न होगी?

इत्यादि शङ्काकलङ्कपङ्क का अवकाश नहीं है, अतः जो प्राणी भक्तिश्रद्धापुरःसर नामोच्चारण करते हैं उनके लिये हरिनाम ही समस्त पापों का प्रायश्चित्त है।

किं बहुना, मरणासन्न प्राणी के लिये तो कथञ्चित् नामैकदेश भी कल्याण के लिये पर्याप्त है।

"अथैनं मापनयत कृताऽशेषाघनिष्कृतिम्।
यदसौ भगवन्नाम म्रियमाणः समग्रहीत्।।"

(भा० ६/२/१३)

अर्थात् (हे यमदूतो !) अब इसे आप मत ले जाओ ! इसने मरते समय भगवन्नाम का उच्चारण करके सम्पूर्ण पापों का प्रायश्चित्त कर लिया है, क्योंकि जिस किसी भी प्रकार से हरिनाम उच्चारण करके समस्त पापों से छूट जाता है-

"साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाऽघहरं विदुः।।"

(भा० ३/२/१४)

पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्।।"

(भा० ६/२/१४)

अर्थात् पुत्र आदि में सङ्केतित, परिहास, गीत आलाप के पूरणार्थ या अवहेलना से उच्चारित भी 'हरिनाम' पाप का नाशक है। इतना ही नहीं, विष्णुनाम के अभिप्राय से रहित, पुत्रस्नेह आदि के कारण, प्रासाद, छत आदि से पतनकाल में, मार्ग में, गिरने से भग्नगात्र होने से, सर्प आदि से दंष्ट होने से, ज्वरादि से सन्तप्त (पीड़ित) एवं दण्डादि से आहत होने पर, अधिक क्या कहें, अवश होकर भी भगवन्नमोच्चारण कर प्राणी विमुक्त हो जाता है। क्योंकि मरणकाल में कृच्छ्र आदि विधि

के समान भगवन्नामोच्चारण विधि' भी असंभव है। यहाँ यह शङ्का होती है कि शास्त्रों में 'पापे लघूनि, लघुनि गुरुणि गुरूणि' इत्यादि रीति से अल्प पापों के नाशार्थ अल्प प्रायश्चित्त और महान् ब्रह्महत्यादि पापों के नाश के लिये वृहत् द्वादशवार्षिकादि प्रायश्चित्त विहित हैं, अत: जैसे स्मृतियों में पापतारतम्य से कृच्छ्रादि प्रायश्चित्त का तारतम्य विहित है, वैसे ही वृहत् पाप के नाश के लिये किसी वृहत् ही पौराणिक प्रायश्चित्त की भी आवश्यकता है।

इसका उत्तर यह है कि शास्त्रानुसार प्रायश्चित्त में शास्त्र ही प्रमाण है, अत: जहाँ जैसा विहित है वहाँ वैसा ही करना चाहिये। मन्वादिकों ने कृच्छ्रों में तारतम्य कहा है, परन्तु हरिनाम में तारतम्य शास्त्रोक्त नही है। प्रत्युत-

> ''विष्णोः स्मरणमात्रेण मुच्यते सर्वपातकैः ।
> हरिर्हरति पापनि, दुष्टचित्तैरपि स्मृतः ।।''

इत्यादि वचनों द्वारा नामोच्चारण से पापनाश कहा गया है।

शङ्का-अल्प नाम में पाप-नाश की ऐसी सामर्थ्य कैसे संभावित है?

उत्तर- जैसे मदिरा के बिन्दु मात्र के पान से महापातक होता है, वैसे ही अल्पाक्षर नामोच्चारण से पाप-नाश भी होता है, किञ्च तप आदि से नहीं निवृत्त होने वाली अधर्म वासना भी-

> 'तदपीशाङ्घ्रिसेवया:'

नामकीर्त्तनादिलक्षण भक्ति से निवृत्त हो जाती है।

शङ्का—प्रायश्चित्त बुद्धि से किया गया हरिनामोच्चारण ही पापापनोदक हो सकता है, सङ्केत, परिहास आदिरूप में उच्चारण किया गया नहीं?

उत्तर ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि बालक बिना जाने भी यदि तूल-राशि (रूई के ढेर) पर अग्नि-कण फेंक दे, तो भी तूलराशि जल

ही जाती है। एवं वैद्य से अनुपदिष्ट श्रद्धाविहीन को भी कोई वीर्यवत्तम औषधि दी जाय तो वह अपना आरोग्य सम्पादन अवश्य करती है, क्योंकि वस्तुनिष्ठ 'ज्ञान' की अपेक्षा नही करती। तद्वत् अचिन्त्याऽनन्तशक्तिसम्पन्नमन्त्रात्मक भगवन्नाम भी पापनाशक और मङ्गलविधायक है। अतएव-

अज्ञानादथवा ज्ञानाद्दहेदेव यथाऽनलः ।
अथाऽगदं वीर्यतममुपयुक्तं यदृच्छया ।।

इत्यादि कथन यथार्थ ही है।

शङ्का—लोक में नामोच्चारण केवल नामी का स्मारक होता है, नामी का कार्य करने में नहीं समर्थ होता, अतएव (केवल) अग्नि कहने से मुख-दाह नहीं होता और सिता (शर्करा) शब्द के उच्चारण मात्र से मुख मिष्ट नहीं होता। तद्वत् भगवन्नाम में भी नामी (श्री भगवान्) के स्मरण कराने के सिवाय उक्त (पापों को नाश करने की) सामर्थ्य कैसे सम्भव है?

समाधान—लौकिक नाम में यद्यपि, नाम के स्मरण मात्र कराने को ही शक्ति है, तथापि जैसे अनन्त महौषधियों के पारस्परिक सम्प्रयोग विप्रयोग जन्य (अर्थात् अनेकों महौषधियों के परस्पर संयोग से उत्पन्न हुई) शक्तियों के अभिभव या प्रादुर्भाव के विवेक का विज्ञान अन्वयव्यतिरेकादि लौकिक युक्तियों से शत जन्म में भी नहीं हो सकता, किन्तु केवल सर्वज्ञ महर्षि-प्रणीत आयुर्वेदशास्त्रों से ही होता है। तद्वत् वर्णों के विचित्र संश्लेष विश्लेष जन्य अचिन्त्य अद्‌भूत अलौकिक शक्तियाँ भी शास्त्रों से ही जानी जाती है।

जैसे केवल एक श्रोत्र इन्द्रिय से ही ग्रहण होने वाला 'शब्द' चक्षुरादि इन्द्रियों से अगृहीत हुआ भी अप्रमित (अप्रमाणित) नही कहा जा सकता, वैसे ही केवल शास्त्रों से ही ज्ञात होने वाली और अन्य प्रमाणों से अप्रसिद्ध वस्तु भी अप्रमित नहीं कही जा सकती।

अतः हरिनाम लौकिक नाम की तरह परमतत्त्व का स्मारक होने से दृष्ट फल वाला होता हुआ भी महौषधि की तरह अदृष्ट फलवाला भी है।

शंङ्का—पुत्रादि संकेतित नाम के उच्चारण से पाप नाश करने में हरि की तो प्रवृत्ति हो नहीं सकती, क्योंकि अन्य के समाह्वान (पुकारने) से अन्य की प्रवृत्ति केवल भ्रान्ति से होती है, और परमेश्वर तो सर्वज्ञ है, अतः उसमें भ्रान्ति का सम्भव ही नहीं। और पापनाश करने की शक्ति हरि में ही संभव है। अतएव 'हरिर्हरति पापानि' इस उक्ति में केवल भगवान् को ही पापाऽपहारी कहा है, न कि भगवन्नाम को।

उत्तर—हरिनाम भी हरि से अभिन्न होने के कारण अचिन्त्य अनन्त शक्ति सम्पन्न है। अतएव शास्त्रकारों ने शब्द और अर्थ का तादात्म्य सम्बन्ध माना है।

सच्चिदानन्द परमतत्त्व परमेश्वर के सदंश का ही विवर्त्त (परिणाम) समस्त अभिधेय है, और चिदंश का विवर्त्त अभिधान है, क्योंकि मीमांसक आदि (सभी) दार्शनिक लोग 'शब्द' की शक्ति जाति में मानते हैं, और जाति भावार्थवाची 'त्वतल' आदि प्रत्ययों से ज्ञात होती है। विकार का वाच्य (भी) परम कारण सत्तारूप ही होता है।

जैसे घटपद वाच्य घटत्व जाति है, और वह घटत्व, घटगत अस्तित्व (भावरूप) ही है। घटगत अस्तित्व अन्वय-व्यतिरेक आदि युक्तियों से समुपोद्बलित 'वाचारम्भण श्रुति'[१] के बल से मृत्तिका मात्र है, अर्थात् मृत्तिका के होने पर घट होता है और मृत्तिका के न होने पर घट नहीं होता। अतः मृत्तिका से अतिरिक्त घट का अस्तित्व नहीं है। एवं जितने भी विकार (कार्य) हैं, वे अपने कारण से अतिरिक्त नहीं हैं, इसलिये सभी (विकार) अपने परम कारण उस 'सत्' तत्त्व

मे ही पर्यवसित होते है। ऐसा होने पर भी समस्त शब्दो की पर्यायतापत्ति (एकार्थ वाचकता) नही होगी, क्योंकि कार्योपाधि भेद से एक ही तत्त्व नाना शब्दवाच्य होता है।

जैसे नीलपीत आदि वस्तु के योग से एक स्फटिक के अनेकों भेद हो जाते हैं, अथवा जैसे नाम-रूप भेद से एक ही मृत्तिका घट, सकोरा आदि नाना शब्द वाच्य होती है, तद्वत् घटगत अस्तित्व 'घटत्व' मृत्तिका गत अस्तित्व 'पृथिवीत्व' और जलगत अस्तित्व 'जलत्व' इस रीति से उपाधि भेद द्वारा नानावाच्य भी उपपन्न हो जायेंगे, अतः पर्यायतापत्ति न होगी।

बस, ठीक ऐसे ही समस्त शब्दों का भी पर्यवसान 'चित्' तत्त्व में होता है, क्योंकि वैयाकरण आदि लोग 'स्फोट' को ही शब्द कहते हैं।

'स्फुटत्यथोऽस्मादिति स्फोटः, स्फट्यतेऽभिव्यज्यते वर्णैरिति वा स्फोटः'

इस व्युत्पत्ति से वर्णाभिव्यङ्ग्य तथा अर्थाभिव्यञ्जक बोध ही 'स्फोट' है और वहीं 'शब्द' है।

विलक्षण वायु के आघात से उत्पन्न हुई जो विलक्षण ध्वनि, उसमें प्रतिबिम्बित होने से एक ही चित् तत्त्व, (उपाधि भेद से) नानावाच्यों का वाचक होता है। इस प्रकार से 'चित्' रूप वाचक और 'सत्' रूप वाच्य यद्यपि स्वरूप से एक ही हैं, तथापि जीव और ईश्वर के भेद के समान औपचारिक भेद से विभिन्न-विभिन्न भी हैं।

'सिता' (शर्करा) आदि शब्द से मधुरिमा का अनुभव नहीं होता, किन्तु सिता से (ही) होता है, क्योंकि वहाँ अभेद आवृत है।

आदित्य मेघोपाधि से आवृत होता है दूरवीक्षण यन्त्रादि से नही आवृत होता। जैसे मलिन उपाधि के योग से अभेद सर्वथा समावृत

हो जाता है, वैसे निर्मल उपाधि से (अभेद) समावृत नही होता, किन्तु अनिर्वाच्य प्रातिभासिक भेद का जनक होते हुए भी स्वाभाविक अभेद का आवरक नहीं होता। ठीक वैसे ही मलिन उपाधि के योग से यद्यपि लौकिक वाच्यवाचक का अभेद आवृत्त है, तथापि भगवान् और भगवन्नाम का विशुद्ध शक्ति के योग से यद्यपि अनिर्वाच्य प्रातीतिक भेद भी है, तथापि स्वाभाविक अभेद अनावृत ही है।

नैयायिके मत में यद्यपि 'शब्द' आकाश का गुण है, तथापि पूर्व मीमांसक, उत्तरमीमांसक, वैयाकरण और निरुक्तकार आदि के मत में केवल ध्वनिमात्र आकाश का गुण है और 'शब्द' नित्य या बौद्ध (बुद्धि के अन्तर्गत होने वाला) द्रव्य है।

पुरुष के प्रयत्न से प्रेरित हुआ मणिपूरस्थ वायु कण्ठताल्वादि तत्तत् स्थानों के अभिघात से आहत होकर विचित्र ध्यान का उत्पादक होता है। उसमें नित्य विभु शब्द प्रतिबिम्बित होते हैं, तदनन्तर प्रयोग करने वाले पुरुष से प्रयुक्त, ध्वनि पर प्रतिबिम्बित, श्रोता से श्रोत्र द्वारा श्रूयमाण एवं श्रोता के हृदय में तादात्म्येन स्थित अर्थ से अभिन्न होकर शब्द अपने अर्थ का अवद्योतक होता है। तथापि अविद्या शक्ति से आवृत होने के कारण पादविभूत्यन्तर्गत लौकिक नाम और नामी का अभेद काल्पनिक भेद से आवृत है।

त्रिपाद विभूति भगवान् में अचिन्त्य-दिव्यशक्ति रूप उपाधि के विशुद्ध होने से स्वाभाविक अभेद का आवरण आवश्यक नहीं होता।

'त्रिपादस्याऽमृतं दिवि'

अतएव- 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्' 'मात्राश्च पादाः, पादाश्च मात्रा इत्यादि स्थलों में 'वाच्य और वाचक' का अभेद सुस्पष्ट रूप से कहा गया है। माण्डूक्यकारिका में आचार्यप्रवर श्रीमच्छङ्कर भगवत्पादों ने भी नाम और नामी के अनुपचारित अभेद साधन में पूर्ण प्रयत्न किया है।

लौकिक शर्करा आदि नाम और नामी में होने वाला अभेद आवृत है, इस वास्ते अर्थगत माधुर्य आदि गुणों की शब्द में उपलब्धि नहीं होता।

किंच यमराज भी अपने दूतों को प्रमाणान्तरानपेक्ष प्रत्यक्ष ही दिखलाते हैं-

"नामाच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः।
अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमुच्यत।।"

प्रश्न—तथापि केवल एक बार भगवत् नामोच्चारण करके कैसे पापों का क्षय हो सकता है? क्योंकि शास्त्रों में श्रद्धाभक्ति पुरस्सर नाम की आवृति का भी विधान पाया जाता है, जैसे-

'सायं प्रातर्गृणन् भक्त्या, दुःखग्रामाद्विमुच्यते।'
'अनुदिनमिदमादरेण श्रृण्वन्'
'तदर्थेऽखिलचेष्टितम्'
'पापक्षयश्च भवति स्मरतां तमहर्निशम्'।
'तस्मात्सङ्कीर्तनं विष्णोजगन्मङ्गलमंहसाम्'।

इत्यादि वाक्यों से यही सूचित होता है कि आदरभक्ति सहित निरन्तर भगवन्नामोच्चारण से प्राणी दुःखराशि से छूट जाता है, तथा उसके पाप क्षीण हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में नामभास से अर्थात् पुत्रादि में सङ्केतित भगवन्नाम से, अथवा केवल एक बार उच्चारण करने से पाप निवृत्ति कैसे सम्भव है?

उत्तर—पापों का नाश करने के लिए तो केवल एक बार यथाकथंचित् भगवन्नामोच्चारण ही पर्याप्त है, श्रद्धाभक्ति पुरस्सर भगवन्नाम की आवृत्ति का विधान तो पापों की वासना को नष्ट करने के लिये है, जिससे कि पुनः पाप में प्रवृत्ति न हो। इसीलिए मरणकाल मे किये गये भगवन्नोमोच्चारण से समस्त पाप क्षीण हो जाते हैं, और फिर आगे पाप होने नहीं पाते, अतः प्राणी मुक्त हो जाता है। अन्य समय नामोच्चरण

से पापों के नष्ट होने पर भी पाप-वासना से पुनः पाप में प्रवृत्ति हो जाती हैं, अतः अन्य समय के नामोच्चारण की अपेक्षा मरण कालीन नामोच्चारण की प्रशंसा अधिक है-

''कोटि कोटि मुनि जतन कराहीं।
अन्त राम कहि आवत नाहीं।।''

जो नामापराध से रहित होकर वर्णाश्रम धर्म के अनुसार शास्त्रविधि का परिपालन करते हुए सर्वदा हरिनाम सङ्कीर्त्तन आदि किया करते हैं, उन्हीं लोगों से प्रायः अन्त (समय) में हरिनामोच्चारण होता है। अतः जैसे गिरिगह्वरवर्त्ती (पर्वत की गुफा में रहने वाला) गाढ़ अन्धकार प्रथम प्रवर्तित प्रदीपशिखा से ही नष्ट हो जाता है, तथापि अन्धकारान्तर (अन्य अंधकार) की निवृत्ति के लिए दीर्घकालीन प्रदीप धारण, सूर्यो दय पर्यन्त अपेक्षित होता है, वैसे ही यद्यपि महापाप भी सकृदुच्चरित (एक बार उच्चारण किए हुए) हरिनाम से नष्ट हो जाते है, तथापि पापवासनाक्षय पुरस्सर भगवत्तत्त्व-साक्षात्कार के लिए श्रद्धाभक्ति पूर्वक शास्त्रानुसार हरिनाम सङ्कीर्त्तन अपेक्षित है-

''गुणानुवादः खलु सत्त्वभावनः''

(भगवान् का गुणानुवाद अर्थात् बार बार उनके गुणों का कथन, सत्त्व गुण का उत्पादक है) ''तदपीशाङ्घ्रिसेवया'' (अर्थात् भगवान् के चरण कमलों की सेवा से अधर्म वासना भी नष्ट हो जाती है) इत्यादि के लिए ही—''तमहर्निशम्'' इत्यादि वचनों से आवृत्ति का विधान है। पाप नाश के लिए तो-

''एतावताऽलमघनिर्हरणाय पुंसां
संकीर्त्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम्।
विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि
नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम्।।''

अर्थात् ! यथाकथञ्चित् भी भगवन्नामोच्चारण समस्त पापो के नाश के लिए पर्याप्त है। अतएव अजामिल अपने पुत्र को पुकारने से ही मुक्त हो गया। अस्तु, यह व्यवस्था तो हरिनाम के माहात्म्य को प्रतिपादन करने वाले वचनों को 'भूतार्थवाद' मान लेने पर है। परन्तु कुछ लोगो का तो यह कथन है कि अर्थवाद वचनों से भी विधि की कल्पना हो सकती है।

जैसे कि 'रात्रि-सत्र' की विधि यद्यपि स्वतन्त्र 'लिङ्' आदि प्रत्यय से नहीं भी पायी जाती तो भी—

'प्रतितिष्ठान्ति ह वै ते य एता रात्रीरुपयन्ति'

इस अर्थवाद से ही 'प्रतिष्ठा कामाः एता रात्रीः उपेयुः' ऐसी विधि की कल्पना की जाती है। बस ठीक ऐसे ही—

''नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः, पापनिर्हरणे हरेः।
तावत्कर्त्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः।।''

इत्यादि (अर्थवाद) वचनों से ''अशेषाऽघ-निर्हरणकामो हरिनामाऽमृतं पिवेत्''[२]

ऐसी विधि की कल्पना करनी चाहिए।

१. मानान्तर हे असिद्ध और अविरुद्ध अर्थ को प्रतिपादन करने वाले अर्थवाद को भूतार्थवाद कहते हैं। अपने अवान्तर तात्पर्य के विषय में भी उसका प्रामाण्य होता है।

२. अशेष पाप का नाश चाहने वाला पुरुष श्री हरि के नामामृत का पान करें।

किञ्च

''तस्माद् भारत ! सर्वात्मा, भगवान् हरिरीश्वर:।''
स्मर्त्तव्य: कीर्तितव्यश्च, ...।।

इस वचन से स्वतन्त्र विधि भी सूचित कर चुके हैं । यह सभी समाधान विधिपरक वेदभाग का ही आदर करने वालो के लिए है वस्तुतस्तु केवल क्रियाबोधक वेद भाग में ही प्रामाण्य नहीं बल्कि फलवान् निश्चित अर्थ के ज्ञापक सभी वेद भाग में प्रामाण्य है। इसीलिए 'तत्तु समन्वयात् इस सूत्र के भाष्य में आचार्य चरणों ने—

''दृष्टो हि तस्यार्थ: कर्माऽवबोधनं नाम।''

इस शारभाष्य के अंश को कर्मकाण्डाऽभिप्रायक मानकर '**ब्राह्मणो न हन्तव्य:**' इत्यादि निषेधवाक्यों की क्रियाव्यतिरिक्त औदासिन्यरूप अर्थ की अवबोधकता दिखलाते हुए उपनिषदों का, सकल अज्ञात ज्ञापक होने से सिद्ध ब्रह्म में प्रामाण्य सिद्ध किया है। अत: इस पूर्वोक्त 'रात्रि-सत्र न्याय' से उक्त फलश्रुति, अधिकारी विशेषण होने से 'स्वर्गकाम: अग्निहोत्रं जुहुयात् इस विधि मे स्वर्गफल—

श्रुति के समान विध्यन्त: पाती है, अर्थवाद नही । इसलिए माहात्म्य प्रतिपादक वाक्य स्वार्थ मे पर्यवसित हैं ।

शङ्का–जब भगवन्नामसङ्कीर्त्तन भक्ति का अङ्ग है, तो चाहे पूर्वोक्त प्रकार से कीर्तन की विधि भी हो, तथापि उसमें जो फलश्रुति है वह अधिकारी का विशेषण होकर विध्यन्त:पाती नहीं हो सकती । जैसे कि 'इडो यजति' इत्यादि वाक्यो से दर्शपौर्णमास के अङ्गभूत प्रयाज और अनुयाजों की विधि भी है, तथापि—

'अङ्गेषु फलश्रुतेरर्थवादत्वम्'

(अङ्गों मे फलश्रुति केवल अर्थवाद है।)

इस न्याय से 'वर्मवा एतद् यज्ञस्य क्रियते' इत्यादि फल अधिकारी के विशेषण नही हैं, अपितु विधि के अर्थ की स्तुति करके केवल अर्थवाद मात्र ही हैं?

समाधान–श्रभगवन्नाम सङ्कीर्त्तन-विधि को प्रयाजादिविधि के समान भगवद् भक्ति की अङ्गता होने पर भी फलश्रुति को अर्थवाद नही कहा जा सकता। जैसे 'दध्ना जुहोति' 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात' दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' यहाँ पर अन्य शेष, दधि होम को वाक्यबलात-

''एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्काम्'

(यदि वाक्य बल से एक स्वरूप की उभयसंबन्धिता श्रुत हो तो फलसंयोग के पार्थक्य की कल्पना करनी चाहिए)

इस न्याय से पुरुषार्थता भी है। और जैसे स्वर्गादि तत् तत् फलो के हेतुभूत यागादिकों को ''यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन विविदिषन्ति'' इस वाक्य के बल से विविदिषा की अङ्गता होने पर भी तत् तत् 'फलश्रुति', अर्थवाद न होकर 'स्वार्थपर्यवसायी' हैं, तद्वत्-

''अवशेनापि यन्नाम्नि, कीर्तिते सर्वपातकैः।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तमृगैरिव।।''

इत्यादि अनेकों वचन श्रीभगवन्नाम को समस्त पापों के दूर करने में हेतु बतलाते हैं, अतः (इन) वचनो के बल से श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन, दद्ध्यादिवत् अन्याङ्ग (अन्य का अङ्ग) होता हुआ भी स्वतन्त्र पापऽपहारी है।

शङ्का—यद्यपि उक्त प्रकार से सङ्कीर्त्तन फलश्रुति को अर्थवाद नहीं कहा जा सकता, तथापि जैसे-

''यस्य पर्णमयी जुहुर्भवति, न स पापं श्लोकं शृणोति''

इस स्थल में अनारभ्याधीत पर्णमयीत्व को अव्यभिचरित क्रतुसंबन्धि त्वेन क्रत्वङ्गता है, अतः फलश्रुति अर्थवाद है। अर्थात् जैसे जुहू का क्रतु के साथ अव्यभिचारी सम्बन्ध है, अतः यद्यपि (यस्य पर्णमयी) यह वाक्य किसी क्रतु के प्रकरण में नहीं पठित है, तथापि क्रतु का

संबन्धितत्वेन अथवा उपास्य की उपासना की अङ्गता होने से फलश्रुति को अर्थवादता होगी ।

समाधान—

"ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
यदाप्नोति, तदाप्नोति कलौ सङ्कीर्त्य केशवम्[१] ।।

इत्यादि स्थलों में जो युगभेद से गवत् सङ्कीर्तन की व्यवस्था है, वह अर्थवाद में उत्पन्न नहीं हो सकती क्योंकि स्तुति में देशकाल की अपेक्षा नहीं, स्तुति तो देश-कालानवच्छिन्न होती है।

लोक में भी 'देवदत्त अमुक काल में राजा हुया या होगा' यह उक्ति स्तुति नही हो सकती । यत: व्यवस्था मानान्तर से अज्ञात है, अत: अपूर्व है, इसलिए उसको विधेय ही कहना होगा ।

१. कृतयुग में ध्यान से, त्रेता में यज्ञो से, और द्वापर में अर्चन से जिस फलो की प्राप्ति होती है, उनकी प्राप्ति कलि में केशव कीर्त्तन से ही होती है।

इसलिए यहाँ पूर्वोक्त 'पर्णमयी' न्याय नही लागू हो सकता । यदि कहिये कि— **'ध्यायन् कृते यजन् यज्ञै:**, इत्यादि व्यवस्था वाक्य से व्यतिरिक्त भगवन्नाम-महात्म्य प्रतिपादन वाक्यो में, तो 'पर्णमयीत्व' न्यायके अवतरणमें कोई बाधक नही है । अत: वे सब अर्थवाद समझें जायेंगे । तदनन्तर नाम-माहात्म्य प्रतिपादक वाक्य सामान्यत् व्यवस्था वाक्य की भी अर्थवादता सिद्ध ही हो जायगी । सो ठीक नही, क्योंकि जब व्यवस्थावाक्य की अर्थवादता सिद्ध हो जाय, तभी अन्य वाक्यों के अर्थवाद होने में विरोधाभाव कहा जा सकता है । और जब विरोधाभाव हो तभी अन्य वाक्यो को अर्थवाद कह सकते हैं । एवं जब अन्य

---

१. कृतयुग में ध्यान से, त्रेना मे यज्ञो से, और द्वापर मे अर्चन से जिस फलों की प्राप्ति होती है, उनकी प्राप्ति कालि में केशव कीर्त्तन से ही होती है।

वाक्यों में अर्थवादत्व सिद्ध हो ले, तभी तत्सामान्यात् व्यवस्थावाक्य को भी अर्थवाद कह सकते हैं। इस प्रकार यह चक्रकापत्ति दोष हो जायगा।

यदि व्यवस्थावाक्य से, नाम सङ्कीर्त्तन विधि नहीं, किन्तु कलियुग की स्तुति है, अतः व्यवस्था ही नहीं, सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि कलि तो सिद्धवस्तु है, इसलिये वह विधेय नहीं हो सकता, अतः कीर्त्तन-विधान बिना उसकी स्तुति व्यर्थ है। भगवान् के गुण, कर्म तथा नामकीर्त्तन—

''पुंसां अघनिर्णाहाय अलं नास्तिः, अलमत्र बारणवाचकम्''

पुरुषों के पापक्षय मात्र के लिए ही नहीं ! अपितु भगवत्प्राप्ति के लिए ही हैं । क्योंकि स्वयं म्रियमाण, अस्वस्थचित्त, असावधान, अशुचि और महापातकी अजामिल भी नारायण नामवाले अपने पुत्र को 'नारायण' ऐसा आह्वान करके पापरहित ही नहीं, किन्तु मुक्त (भी) हो गया ।

उसने न तो विधिवित् सङ्कीर्त्तन ही किया, और न हरिस्मरण बुद्धि से आह्वान ही।

प्रश्न–यदि नामोच्चारण मात्र से समस्त पापों का प्रायश्चित्त हो सकता, तो फिर मन्वादिकों ने 'महत्प्रायश्चितों का विधान क्यों किया?

'अक्के चेन्मधु विन्देत, किमर्थं पर्वतें ब्रजेत्' ।

अर्थात् घर के कोने में ही यदि मधु मिल सके, तो उसके लिए पर्वत क्यों जाया जाय ?

उत्तर–यद्यपि **'योगेनैव दहेदंहः, 'प्रायश्चित्तं विमर्शनम्'** इत्यादि वाक्यों से योग, ज्ञान, आदि को ही समस्त पाप निवर्त्तक कहा है, तथापि स्वारसिकी श्रद्धा के अभाव से प्राणियों की प्रवृत्ति ज्ञानादि में नहीं होती, किन्तु कृच्छ्रचाद्रायणादिकों में ही होती है।

महावाक्यादि-जन्य ब्रह्माकार वृत्ति से सकलानर्थ की निवृत्ति होता है, तथापि श्रद्धादि साधनादिकों के अभाव से, सर्व प्राणियो की उसमें प्रवृत्ति नहीं होती, वैसे ही भगवन्नामादि प्रायश्चित्त में उत्कृष्ट श्रद्धालु ही अपेक्षित है, अश्रद्धालु नहीं। अतः अपकृष्ट प्राणियों के लिए कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि (प्रायश्चित्त) का विधान है।

महावाक्यजन्य ब्रह्मसाक्षात्कार उत्कृष्ट (श्रेष्ठ) अधिकारियों को अति सुखसाध्य होने पर भी अनधिकारियों को सुखसाध्य नहीं होता । पर वे ही प्राणी वेद, वेदाङ्गाध्ययन, एवं तदर्थानुष्ठान से विशुद्ध अन्तःकरण होकर, ज्ञान-संपादन में समर्थ हो जाते हैं । लोक में भी देखते हैं कि प्राणियों की अल्पाक्षर (छोटे) मन्त्रों में श्रद्धा नहीं होती पर बड़े मन्त्रों में होती है। मृतसंजीवन आदि महौषधियों में अज्ञानकृत अश्रद्धादि दोष से प्रवृत्ति नहीं होती, कटु त्रिकुटादि में होती है, बस ठीक वैसे ही (यहाँ) प्रकृत में भी समझना चाहिए।

और जैसे स्थूल मल का अपनयन सामान्यक्षार से किया जाता है । सूक्ष्म मल का अपनयन करने के लिए तीक्ष्ण क्षारादि का प्रयोग किया जाता है, तद्वत् । अथवा जैसे श्व (कुत्ता) शृगाल आदि (क्षुद्र पशुओं) को रोकने के लिए सिंह नियुक्त किया जाता, तद्वत् तुच्छ पापों की निवृत्ति के लिए मन्वादिकों ने 'भगवत्, नाम-प्रयोग को अनुपयुक्त (अयोग्य) समझा ।

प्रश्न–ऐसे ऐसे तो पुराणों मे बहुत छोटे कृत्य आते हैं कि जिनके आचरण से ब्रह्मलोकादि फलों की प्राप्ति सुनी जाती है। परन्तु यह कहाँ तक संभव हो सकता है।

उत्तर–यदि छोटे छोटे कृत्यो से बड़े पापों की संभावना है तो, फिर छोटे कृत्यों से बड़े पुण्य की संभावना में क्या अनुपपत्ति है?

क्षणभर मे अन्यप्रयत्न-साध्य प्रबलकर्तृक ब्रह्मवृति का अपहरण, साठ हजार वर्ष तक विष्ठाक्रमि जन्मका जनक है— "**स्वदत्तां परदत्तां वा**" इत्यादि। एवं गुरु को 'हूँ' मात्र बोल देने से कंक गृद्ध निषेवित श्मशानवृक्ष होना पड़ता है—

"गुरुं हुकृत्य तुं कृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः।
श्मशाने जायते वृक्ष कङ्कगृध्रनिषेवितः।।"

इस वास्ते यदि केवल 'हूँ' कहने का इतनां फल शास्त्र सिद्ध है, तो 'राम' कहने में दिव्य फल क्यों नहीं ?,

लोक में देखते हैं कि एक शब्द ऐसा होता है कि जिसे सुनकर शत्रु भी नम्र हो जाता है। किं बहुना, परमतत्त्व की अभिव्यक्ति ही जीवन की परम उन्नति है, और वह भी निय-नैमित्तिक धर्मो के अनुष्ठान से विशुद्धबुद्धिवाले पुरुष को गृहीत शक्तिकशब्द से ही प्राप्त होती है ।

इसीवास्ते वार्तिककारो ने भी 'शब्द' में अचिंत्य शक्ति मानी है । अतएवं 'गोपद' से 'सास्नादिमती' व्यक्ति की तरह अर्थात् जैसे 'गो' शब्द कहने से 'सास्नादिमती' व्यक्ति की स्फूर्ति होती है, और वह (स्फूर्ति) सकलाऽनर्थ विनिवृत्ति पुरस्सर परमानन्दावाप्ति का हेतु है । अतएव तुरीयाश्रम (संन्यास आश्रम) के लिए स्वाधिकारानुकूल परम तत्वाऽभिधान के द्वादशसहस्र (१२०००) जप करने की विधि है ।

भगवन्नामोच्चारण-रूप प्रायश्चित्त अति सुगम है, अतः (भगवन्नाम के बल पर) निर्भय होकर दुष्ट लोग पापों मे और अधिक प्रवृत्त होंगे, इसलिये पापासक्ति की निवृत्ति के लिए शास्त्रों में कठिन प्रायश्चित्तों का विधान है । तथा नामोच्चारण माहात्म्य के ज्ञान से सभी की मुक्ति का

तस्मात् सिद्ध हुआ कि अचिन्त्याऽनन्त महामहिम वैभवशाली भगवन्नाम, कर्म तथा भक्ति का अंग होकर, निःशेष विशेषाधायक तथा परमप्रेमास्पद, परमात्मविषयक, परमानुरक्ति विधायक होता हुआ, स्वतंत्रता से भी अकस्मात्त ही उच्चारित किया हुआ भी , समस्त पापराशियों को नष्ट करता है । इस तरह भगवान् का मङ्गलमय नाम समस्त वेदोक्त कर्मों तथा उपासनाओं के कर्तृक्रियावैगुण्य को मिटाकर उनका उपकारक होने से अङ्ग भी है, और स्वतन्त्र भी है । इसके बिना किसी पूर्त्ति नहीं होती, अतः यह सर्वसाधन भी है और सभी का फल होने से साध्य भी यही है ।

वर्णाश्रम-मर्यादा

द्वितीय परिच्छेद

नमो ब्रह्मण्यदेवाय, गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय, गोविन्दाय नमो नमः।।
आपद्घनध्वान्तसहस्रभानवः समीहितार्थार्पणकामधेनवः।
अपारसंसारसमुद्रसेतवः, पुनन्तु मां ब्राह्मणपादरेणवः।।

प्रथम परिच्छेद में उपादेय तथा अभ्यर्हित होने के कारण यथायुक्ति शास्त्रानुकूल भगवन्नाम-महात्म्य का प्रतिपादन किया गया । अब इस परिच्छेद में प्रश्नोत्तर द्वारा त्याग के लिए कुपथ्य स्थानीय उच्छृङ्खलता, और ग्रहण करने के लिए अनुपात स्थानीय शास्त्रादिष्ट मर्यादा में नियन्त्रणता का प्रतिपादन किया जायगा ।

क्योंकि जैसे महौषधियाँ अनुपात परिपालन और कुपथ्य परिवर्जपूर्वक ही सेवित होने से यथेष्ट लाभप्रद होती है, अन्यथा कुपथ्यादि से महती हानि की हेतु होती हैं, वैसे ही भगवान् श्रीहरि का नामाऽमृत भी शास्त्र-विहितकृत्य-परिपालन तथा शास्त्रनिषिद्ध कृत्य परिवर्जनपूर्वक ही सेबित हुआ पूर्णतया लाभप्रद होता है[१]। अन्यथा अनधिकारियों से दुरुपयोग में नियुक्त हुआ सर्वनाशक होता है।

१. जगत्पवित्रं हरिनामधेयं, क्रियाविहीनं न पुनाति जन्तुम् ।

---

१. जगत्पवित्रं हरिनामधेयं, क्रियाविहीनं न पुनाति जन्तुम्।

अन्यत्र भी देखा जाता है कि सत्य भाषण आदि (व्रत) प्राणियों के परम कल्याण के हेतु हैं, परन्तु वे ही ब्राह्मणवध आदि में प्रयुक्त हुए महान् अनर्थ के कारण होते हैं। एवं मिथ्या भाषण आदि (दोष) परम अनर्थ के हेतु हैं, तथापि ब्राह्मण-रक्षा के लिये प्रयुक्त हुए वे सब सम्पूर्ण अनर्थ के निवर्त्तक हो जाते हैं। इसी अभिप्राय से शास्त्रों में कहा है कि-

''क्वचिद् गुणोऽपि दोषः स्यात्, दोषश्च गुणवान् क्वचित्''

प्रश्न- तो क्या इस समय श्रीभगवन्नाम-सङ्कीर्त्तन का अधिक मात्रा में प्रचार होने पर भी प्राणियों की जो पापों में उच्छृङ्खलप्रवृत्ति, भौतिक और आध्यात्मिक भावों में प्रतिदिन अवनति, पारस्परिक सङ्घर्ष इत्यादि भावों की वृद्धि हो रही है, यह सब शास्त्र-मर्यादा के अतिक्रमण रूप कुपथ्य का ही फल है?

यदि ऐसा ही है तो, फिर प्रथम परिच्छेद में कहे हुए परम दुराचारियों का भी एक बार भगवन्नामोच्चारण मात्र से कल्याण होने की, और **'अपि चेत्सुदुराचारों भजते मामनन्यभाक्, 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा'** इत्यादि श्रीमद्भगवद्-उक्तियों की क्या गति होगी?

उत्तर—श्रीमद्भगवन्नाम तो परमपावन ही है; परन्तु जैसे दाहकत्वादि गुण विशिष्ट भी अग्नि, मणि-मन्त्रादि से दाहकत्व शक्ति के रुक जाने पर दाह नहीं कर सकता, वैसे ही सच्छास्त्रादि-अवहेलना रूप महापातक से संकुचित शक्तिवाला श्रीभगवन्नाम भी शास्त्र में कहे हुए अपने फलों का सम्पादक नहीं होता ।

परन्तु ''अपि चेत्सुदुराचारो'' इत्यादि उक्तियों का अभिप्राय यह है कि कोई प्राणी चाहे पहले दुराचारी भी रहा हो, तथापि भगवन्नामादि का आश्रय लेने से समस्त पापों को छोड़ कर परम साधु हो जाता

है। जो प्राणी भगवन्नाम का समाश्रयण कर अनवधानता ही से ही नहीं किन्तु 'भगवन्नाम सुगम तथा समस्त पापों को दूर करने वाला है, अत: पाप करने में क्या डर है, भगवन्नाम से सब पाप नष्ट हो जायँगे' इस बुद्धि से पाप करता है, तथा शास्त्र अथवा शास्त्रीय वर्णाश्रम-मर्यादा का उल्लंघन करता है, वह तो भगवन्नाम पर कलङ्क लगाता है, अत: भगवदपराधी है। उसको तो भगवन्नाम भी तारने में असमर्थ होकर घोर अनर्थ परम्परा में ही भेजते हैं, क्योंकि अन्यान्य अपराधों का प्रायश्चित्त भगवत्समाश्रयण है, फिर भगवदपराधी की क्या गति होगी? "हरेरप्यपराधान्य: कुर्याद् द्विपदपांसन:"

प्रश्न—तो फिर **"नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः, तावत्कर्तु न शक्नोति पातंक पातकी जनः"** इस वाक्यानुसार अनन्त पापनाशानुकूल शक्ति से सम्पन्न नाम न हुआ ।

उत्तर- यह कोई दोष नहीं, जैसे लोक में सर्वानुग्राहकत्वादि गुणगणविशिष्ट साम्राज्याधिपति अपने अपराधी पर अनुग्रह न कर उलटा कठोर दण्ड देता है, तथापि सर्वानुग्राहकत्व सर्वपालकत्बादि गुण विरहित नहीं कहा जाता, वैसे ही श्रीमद्भगवन्नाम समस्त पापों का व्यापादक होता हुआ भी स्वापराधी का पाप-नाश न करके भयङ्कर दण्ड दे, तो भी उसकी अनन्त पाप-नाशानुकूल शक्तिमत्ता में कोई व्याघात नहीं है।

प्रश्न—भगवन्नाम के कौन-कौन अपराध हैं, यह कैसे जाना जाय?

उत्तर—भगवन्नाम-माहात्म्य प्रतिपादक शास्त्रों ही से भगवन्नामापराध जाने जा सकते हैं। क्योंकि श्रीभगवन्नामान्तर्गत निखिलाघ-निबर्हणानुकूल, अशेषकल्याण गुणगणवितानानुकूल अचिन्त्यानन्त शक्तियाँ भी शास्त्रैकसमधिगम्य हैं, वे प्रत्यक्षादि प्रमाण के विषय नहीं हैं। अत: जैसे आयुर्वेदिक उपाय तथा उसका अनुपात या कुपथ्य आयुर्वेदानुसार विज्ञ वैद्य से जान कर

ही उपयुक्त होकर लाभप्रद होता है। अन्यथा मनमाने उपाय से किसी विज्ञ वैद्य की सलाह के बिना पुस्तक मात्र देख कर रोग का निदान करने से, यथाविधि रोगनिवृत्ति में प्रतिबन्धक कुपथ्य आदि के बिना समझे तथा किसी स्वार्थी मूर्ख वैद्य की सलाह लेकर जिस किसी उपाय के करने से शरीर का नाश होता है। कहा भी है-

''सचिव वैद्य गुरु तीन जो, प्रिय बोलहिं भय आश ।
राज धर्म तन तीनि कर, होय वेग ही नाश ।।''

इसी तरह शास्त्रमर्मज्ञ निःस्पृह ब्राह्मणों से अपने अधिकारानुसार अपने उपयुक्त भगवन्नाम आदि तथा उस में सहायक-रुचिसम्पादक शास्त्रप्रतिपादित प्रतिबन्धक एवं नामापराधादि को शास्त्रानुसार जान कर तदनुष्ठान करने से ही लाभ होता है, अन्यथा सर्वस्व नाश होता है। इसीलिए श्री भगवान् ने गीता में कहा है—

''तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ''

(इसलिये हे अर्जुन ! कौनसा वैदिक-स्मार्त कृत्य किस तरह करना चाहिये, कौन किस तरह नहीं करना चाहिये, ऐसी व्यवस्था में तेरे लिये एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है) तथा इसके विपरीत भगवान् श्रीमुख से ही कहते हैं-

''यः शास्त्रविधिमुत्सज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिं ।।''

(जो शास्त्र विधि को छोड़ कर मनमाना काम करता है उसे सिद्धि, सुख, परागति कुछ भी नहीं मिलती) । इसलिए जैसे किसी वैज्ञानिक द्वारा आविष्कृत यंत्र के निर्माण का उपाय सर्वथा उसी वैज्ञानिक से पूछा जाता है, अन्यथा एक भी छिद्र या कालादिके व्यतिक्रम होने से यंत्र अकिंचित्कर ही नहीं किन्तु प्राणविश्लेषण का हेतु होता है, उसी तरह

शास्त्र प्रतिपाद्य फल पाने के लिए उपाय आदि भी पौर्वापर्य्य के अभिज्ञ शास्त्रज्ञ द्वारा शास्त्र से जानने चाहिये। जैसे कुक्कुटी का अर्धाङ्ग भक्षण करने के लिए ले लेना, अर्धाङ्ग-प्रसव के लिये छोड़ देना यह बात उपहासास्पद है, वैसे ही कुबुद्धि से शास्त्रैकदेश मान लेना, अन्यांश की उपेक्षा करना भी उपहासास्पद है। अत: अमुक अमुक कृत्य कुपथ्यवत् परिवर्जनीय हैं, अमुक अमुक कृत्य अनुपानवत् उपादेय हैं, यह शास्त्रों से ही ज्ञात हो सकता है।

प्रश्न—इस समय प्रजा की नाना प्रकार की आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक अवनति की मूलभूत त्रुटियाँ क्या हैं?

उत्तर—"**यदधर्मकृतं स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत्**" पाप करने वाले को पाप से जो स्थान प्राप्त होता है, वही स्थान सूचना करने वाले को होता है। '**गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जित:**'' गुण दोष देखना दोष है। अत: प्रजा को ही अपनी त्रुटियाँ देखनी चाहिये।

प्रश्न—यदि ऐसा ही है तो महर्षि व्यासप्रभृति नाना प्रकार के आख्यानों से गुण-दोष वर्णन क्यों करते हैं, तथा मीमांसक लोग "**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म:**" इस सूत्र में अधर्म ऐसा पदच्छेद कर अधर्म विचार की प्रतिज्ञा क्यों करते हैं, "**विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञ:**" इस कोष में विद्वान् का नाम दोषज्ञ क्यों कहा गया? ब्रह्मसूत्र तथा भाष्यादि द्वारा अवैदिक मतों में दूषण क्यों दिखलाये गये?

उत्तर—इन सब अभिप्राय लोकहित ही में है। कुपथ्य करने में क्या दोष होता है, कुपथ्य क्या है, यह अबोध बालक क्या जाने, अत: पुत्रवत्सला करुणामयी माता ही कुपथ्य तथा दोष बतलाकर उससे पुत्र को बचाती है। यह पहले कहा जा चुका है कि कही दोष ही गुण हो जाता है। यद्यपि किसी के प्रतिकूल थोड़ा भी आचरण कठोरता या पाप कहलाता है, तथापि दुश्चिकित्स्य व्रण को अपने हाथ से चीरने या डाक्टर से चिरवा देने पर भी माता पुत्रवत्सला ही कहलाती है।

इस वास्ते अदीर्घदर्शी अबोध लोगों को सूक्ष्म दोषों का परिज्ञान नहीं होता। अत: दोषज्ञ विद्वानों की प्रवृति दोषवर्णन में करुणा से ही होती है, ताकि प्राणी अपने अनिष्ट दोषों का परित्याग करें। अत: भक्त प्रवर गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं-

'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने। ताते कछु गुण दोष बखाने।।' परन्तु उन लोगों ने जिज्ञासुओं से ही उनके हितार्थ दोषवर्णन किया है।

वर्तमान आस्तिक कही जाने वाली प्रजा की अवनति तथा उन्नति-प्रतिबन्ध का मूलकारण भगवान् या भगवन्नाम कीर्तन आदि भगवद्भक्ति का समाश्रयणकर वेद शास्त्र की अवहेलना ही है। यह भी दशनामापराधो एक बड़ा भगवन्नामापराध है, क्योंकि शास्त्र का भगवन्नाम के साथ उपजीव्योपजीवकभाव सम्बन्ध है। अर्थात् नाममहात्म्य प्रख्यातिका एकमात्र कारण शास्त्र है । बाह्य अर्थात् शास्त्र न मानने वालों के मत में भगवान् या भगवन्नाम का मूल्य ही क्या है? अत: भगवान् या भगवन्नाम अपने उपोद्बलक ही नहीं किन्तु साक्षात् वाङ्मय स्वरूप ही अवहेलना कैसे सहन कर सकते हैं? कोई प्राणी पिता या अपने अंग का ही तिरस्कार करने वाले अनन्य मूर्ख भक्त पर कैसे प्रसन्न हो सकता है? 'शास्त्रयोनित्वात् पुत्रस्थानीय शास्त्र की अवहेलना नही सहन कर सकता ।

अथवा **'शास्त्रं योनि: स्वरूपसिद्धौ प्रमाणं यस्य'** इस सूत्र व्याख्यानुसार शास्त्र परमात्मा के पिता के समान है । 'वेदो नारायण: साक्षात् **''वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरय:''** इत्यादि वचनों के अनुसार वेद साक्षाद्भगवत्स्वरूप ही है । भगवान् अपने अपराध को सहन कर भी सकते हैं, किन्तु पिता के समान शास्त्र के अपराध को सहन नहीं कर सकते । इन्ही रहस्यों को समझ का भीष्मजी ने शास्त्राननुमोदित होने से अपने पूज्य पिता शन्तनु के हाथपर पिण्ड प्रदान नहीं किया । किंबहुना आस्तिकों ने इतिहासपुराणो मे परमेश्वर के अवताररूप से

प्रसिद्ध भी वेद-शास्त्र के विरुद्ध आचरण या उपदेश करने वाले बुद्ध भगवान् की उपेक्षा कर दी। अतएवं आस्तिकों के मत में अशेष शास्त्र सारगर्भित श्री भगवदीय सुधासूक्ति गीता का भी प्रामाण्य वेद शास्त्रानुकूल होने से ही है, न कि भगवदुक्ति होने से। अन्यथा बौद्धोक्ति को भी प्रामाण्यापत्ति हो जायगी। ठीक ही है, यथार्थ में ऐसी ही भगवान् की भक्ति दृढ़ भी हो सकती है, अन्यथा बालुकामयी भित्ति के समान अदृढ़ ही रहती है। यह शास्त्रों का आदर ही भगवान् का मुख्य आदर है। अर्थात् भगवान् यह समझते हैं कि यदि प्राणियों की शास्त्रों में श्रद्धा होगी तो मेरा आदर भी अनिवार्य्य होगा, क्योंकि शास्त्रों का महातात्पर्य मुझ में ही तो है, और शास्त्रों के आदि, अन्त, मध्य में मेरा ही तो प्रतिपादन है। फिर शास्त्रों में श्रद्धा हो और मेरे में न हो यह हो ही कैसे सकता है? इस तरह अपने से भी अधिक शास्त्र के मानने वाले ही दृढ़ निष्ठा को ही भगवान् अपना आदर समझते हैं। ऐसे आदर से ही भगवान् भक्तों के हाथ बिक जाते हैं। तभी किसी ने कहा है-

''गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागों पायँ।
बलिहारी गुरुचरन की जिन गोविन्द दिया लखायो।।''

यहाँ गुरु भी शास्त्रानुसार ही विवक्षित है, शास्त्र-विरुद्ध आचरण वा उपदेश करने वाला नहीं। अन्यथा जो पुरुष अन्धपरम्परामात्र से शास्त्रानभिज्ञ किसी वेद-वाह्य पुरुष को गुरु मान कर उसके आदेशानुसार क्षणभंगुर देहेन्द्रियादि अनात्मा को आत्मा मान ले, वह परम पुरुषार्थ से सर्वथा ही च्युत हो जायगा। इसी वास्ते हमारे यहाँ शास्त्रानुसारिणी सत्श्रद्धा का ही आदर है, न कि शास्त्र-विरुद्ध अन्धश्रद्धा का। अतएव पुत्रवत्सला माता से भी शतकोटि गुणित हितैषिणी भगवती श्रुति श्रोत्रियत्व और ब्रह्मनिष्ठत्व उभयविशेषण विशिष्ठ ब्राह्मण को ही आचार्य पद प्रदान करती है।

उस परमात्मा को जानने के लिये श्रोत्रिय, वैदिक, तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही पास जाना चाहिये, क्योंकि अश्रोत्रिय किसी सामान्य या विशेष पुरुष में पारस्परिक वैमत्य होने से सर्वज्ञता का निर्णय हो नहीं सकता। अमुक नहीं, इसमें हेतु विशेष न होने से किसी भी पुरुष की सर्वज्ञता में सन्देह ही रहता है ।

जगत् में जैसे सौक्ष्म्य या स्थौल्य का तारतम्य परमाणु या परम महत् परिमाण वाले आकाशादि में पर्यवसित होता है, अतः वहाँ ही निरतिशय सौक्ष्म्य या स्थौल्य होता है, वैसे ही समस्त प्राणियों में तारतम्य रूप से उपलक्ष्यमाण ज्ञान-शक्ति परमेश्वर में ही पर्यवसित होती है। अतः निरतिशय सर्वज्ञता भगवान् में ही है, अन्यत्र ज्ञान ही हो सकता है। इसलिये सर्वज्ञ परमेश्वरोपदिष्ट शास्त्रानुसार ही श्रद्धा ग्राह्य हैं। शास्त्रों के स्वानुकूल अंशों को ले लेना, मोहवश अन्यांशों का आपाततः प्रतिकूलता के कारण छोड़ देना और अनपेक्षित अंशों का अनुष्ठान करना पतन का निदान तथा भगवदपराध है।

'कर्मब्रह्म प्रतिष्ठितम्' के अनुसार जिस ब्रह्मप्रतिष्ठित शास्त्रप्रमाणक वर्णाश्रम धर्म[1] की रक्षा के लिये- ''धर्म संस्थापनार्थाय' अत परब्रह्म परमात्मा का अवतीर्ण होते हैं, और 'न पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन' इस उक्ति के अनुसार सांकर्य दोषवारणार्थ निष्प्रयोजन होकर भी व्यापारवान् होते हैं, उसी धर्म की अवहेलना भगवान् कैसे सहन कर सकते हैं? भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं वर्णाश्रम मर्यादा का पूर्ण रूप से पालन करते थे, जैसा कि भागवत् में वर्णित उनकी दिनचर्या से ही प्रकट है:-

१. ब्रह्म यानी परमात्मा में प्रतिष्ठा स्थिति पर्यवसान है जिसका ऐसे शास्त्र ही हैं प्रमाण जिसमें, एतादृक् वर्णाश्रमधर्म।

''अथाप्लुतोंभस्यमले यथाविधि
क्रियाकलापं परिधाय वाससी।
चकार सन्ध्योपगमादि सत्तमो
हुतानली ब्रह्म जजाप वाग्यतः।''

(भा० १०/७०/६)

"उपस्थायार्कमुद्यन्तं तर्पयित्वात्मनः कलाः।
देवानृषीन् पित्रन् वृद्धान् विप्रानभ्यर्च्य चात्मवान्।।"

(भा० १०/७०/७)

(अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त्त में उठ कर हाथ पैर धोकर, शुद्ध जल में आचमन करके प्रसन्न मन होकर, माया से परे निज शुद्ध रूप का ध्यान करते थे। ध्यान करने के बाद पुरुषश्रेष्ठ श्री कृष्ण निर्मल जल में स्नान कर वस्त्र पहन कर सन्ध्या वन्दनादि कृत्यों को करते थे, और तत्पश्चात् अग्नि में हवन करके मौनी हो गायत्री जप करते थे)

(तदनन्तर आत्मवान् भगवान् उदय होते हुए सूर्य का उपस्थान कर, अपने अंशरूप देवता ऋषि और पितरों का तर्पण कर, अपने कुल के बूढ़ों तथा ब्राह्मणों की पूजा कर गोदान आदि पुण्य कर्म करते थे।)

भक्त होकर भी उनके निर्मित वर्णाश्रम-मर्यादा रूप सेतु का भेदन कितनी बड़ी धृष्टता है।

शङ्का–शास्त्रों में भगवद्भक्तों के लिये कर्मों की उपेक्षा भी तो कही गई है, जैसे—

"अज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टनपि स्वकान्।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः।।"

(कर्मो के अनुष्ठान में गुण अन्तःकरण शुद्धि आदि और त्याग में दोष, अधर्म का उपचय, जानकर भी मेरे अदिष्ट कर्मों को छोड़ कर जो मुझे भजता है वही सत्तम है)

"देवर्षिभूप्तनृणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहत्यकर्त्तम्।।"

(जो प्राणी आत्मानात्म-ग्रन्थि या कृत्यों को त्याग कर सर्वात्मनाशरण्य हरि भगवान् के शरण में गया है, यह देव, ऋषि, भूत या पितर किसी का भी किङ्कर है, और न ऋणी।)

"स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित्।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः।।

(निरन्तर श्री भगवान् का स्मरण करना चाहिये। यही एक विधि समस्त विधियों का राजा है, और सभी विधियाँ इस विधि के किङ्कर हैं। विष्णु को कदापि नहीं भूलना चाहिये, यही एक निषेध समस्त निषेधों का राजा है, और सभी निषेध इसके किङ्कर हैं)

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज"

समाधान- ठीक है, परन्तु क्या आधुनिक काञ्चन-कामिनी-किङ्कर ज्ञानलव दुर्विदग्ध प्राणी भी उक्त कर्मत्याग में अधिकारी हो सकते हैं? त्याग तो बहुत ही प्रशस्त है।

"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।"
"त्यज धर्मगधर्मञ्च उभे सत्यानृते त्यज।"
"ओमित्येवं ध्यायथ अन्यावाचो विमुञ्चथ।"

इत्यादि अनेक श्रुतियों तथा स्मृतियों से सर्वकर्मसंन्यास पूर्वक ही भगवत्तत्त्वानुसन्धान की विधि पाई जाती है। परन्तु जिनको नित्यानित्य विवेक इहामुत्रफलभोगविरागादि साधन चतुष्टय नहीं प्राप्त हैं, उपनयनादि संस्कारपूर्वक वेद वेदाङ्गाध्यायन तदर्थानुष्ठान द्वारा जिन्होंने अन्तःकरण शुद्ध नहीं किया, और जिनका मानस पङ्कज वैषयिक क्षुद्र सुखकी दुर्वासना पङ्क से मलिन हो रहा है, क्या वे सभी उक्त संन्यास आदि के अधिकारी हो सकते हैं? यदि "ओमित्येवं ध्यायथ", "कलि नहिं कर्म न धर्म विवेकू" ऐसा ही शीर्षक देकर वेद-शास्त्र के अध्ययन तथा तदर्थानुष्ठान के अधिकारी अबोध बालक के लिये वेद शास्त्र पठन-पाठन आदि छोड़

कर केवल भगवन्नामजप का उपदेश दिया जाय, तो हरिनाम माहात्म्यावद्योतक शास्त्र भी क्यों अवशिष्ट रह सकेंगें । तब तो भगवन्नाम का स्वरूप या माहात्म्य न जानने से बालू की भित्ति के समान अदृढ़ा भगवन्नाम निष्ठा भी कैसे रहेगी ।

शङ्का–शास्त्रों में उक्त-साधन सम्पत्ति-विरहित पुरुष के लिये भी धर्मों की उपेक्षापूर्वक भगवत्पदाम्बुज का समाश्रयण कहा है, जैसे—

"त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ यतेत्ततो यदि ।
यत्र क्व वाऽभद्रभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ।।"

(जो प्राणी स्वधर्म छोड़ कर श्री हरि के चरणारविन्द का समाश्रयण करता है, वह कदाचित् अपक्व होने से पतित भी हो जाय तो भी क्या उसकी कहीं पर शूद्रादि योनियों में भी कुगति हो सकती है, किन्तु नहीं। और जो श्री हरि की उपेक्षा कर केवल स्वधर्म में निरत हैं, उन्होंने स्वधर्म मात्र से क्या स्वार्थ सम्पादन किया, अर्थात् कुछ नहीं।)

समाधान–उस श्लोक का अभिप्राय तो उक्त व्याख्यान से ही सुस्पष्ट हो गया है। अर्थात् यहाँ "नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, अपितु विधेयं स्तोतुम्" इस न्याय से उक्त श्लोक का स्वधर्मत्याग में तात्पर्य नहीं है, अपितु श्री हरि चरणारविन्द समाश्रयण बिना केवल कर्म अकिंचित् कर है। अतः "मामाश्रित्य यतन्ति ये "मामनुस्मर युध्य च" इत्यादि कथनानुसार मदाश्रित होकर ही स्वधर्मानुष्ठान सकलानर्थ-निवृत्ति पूर्वक परमानन्द प्राप्ति का मुख्य हेतु है।

क्योंकि "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दन्ति मानवाः" इस वचन के अनुसार, स्वधर्म ही अच्युत का आराधन है । अतः शेषिभूत (अङ्गी) आराध्य के बिना शेषभूत (अंङ्ग) आराधन की क्या गति होगी। अतएव भगवत्प्रेम-विहीन परम दुर्लभ भगवत्तत्त्वज्ञान भी अत्यन्त सुशोभित नहीं होता। तो फिर सदा अभद्र कर्म यदि हरि में समर्पण किया तो किस काम का !

"नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।"

इसवास्ते उक्त श्लोक धर्मत्याग को इष्टप्रद न बतलाकर उलटा "पतेत्ततो यदि" इस उक्ति से अपक्व के पतन की सम्भावना सूचन करता हुआ, भगवदाराधन बुद्धि से ही कर्मकर्त्तव्यता को बोधन करता है, जैसे भगवद्भाव सहित ही तत्त्वज्ञान सुशोभित होता है, वैसे ही भगवद्भाव सहित अर्थात् भगवच्चरण पङ्कज में समर्पित ही कर्म परम कल्याण के हेतु होते हैं, भक्तिविहीन कर्म प्रशस्य नहीं हैं, यही उक्त श्लोक का तात्पर्य है। अतएव वर्णाश्रमधर्म में अनुष्ठान की परमाश्यकता भक्त के लिए भी कही गई है।

"वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् ।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम् ।।"
"वर्णाश्रमेषु ये धर्माः शास्त्रोक्ता द्विजसत्तम ।
तेषु तिष्ठन्नरो विष्णुमाराधयति नान्यथा।।
"न चलति निजवर्णधर्मतः सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे।।

वर्णाश्रमाचार युक्त होकर ही पुरुष को परमपुरुष विष्णु की आराधना करनी चाहिये, अतः वर्णाश्रम धर्मानुष्ठान ही ईश्वराराधन है। भगवान् की प्रसन्नता का दूसरा कारण नहीं।

शङ्का-"तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यवता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते।।"

अर्थात्- जब तक प्राणी संसार से विरक्त न हो अथवा मेरे कथा श्रवणादि में श्रद्धावान् न हो तब तक कर्म करना चाहिये। इस श्लोकानुसार भगवच्चरित्र-श्रवणादि में श्रद्धा होने पर कर्मों को छोड़ देना चाहिये।

समाधान—ठीक है, परन्तु विविध प्रकार के ऐहिक, आमुष्मिक सुख भोग वैराग्य के समकक्ष (जोड़) में आई हुई श्रद्धा को सामान्य सार्वजनिक सुलभ श्रद्धा नही समझना चाहिये । अपितु बहुजन्मसमनुष्ठित

स्ववर्णाश्रमधर्म से प्रसन्न श्री हरि या उनके भक्तों की कृपा से प्राप्त असाधारण श्रद्धा समझना चाहिये, जो कि ध्रुव प्रह्लाद इत्यादिकों की श्रद्धा के समान अनेक प्रकार की यातनाओं तथा सुख-प्रलोभनो से भी विचलित न हों। आज हम लोगों में वैसी श्रद्धा की गन्ध भी नहीं हैं। वेदाध्ययन, संध्या, अग्निहोत्रादि वैदिक स्मार्त भगवदाराधनात्मक कृत्य नाम-सङ्कीर्तनादि श्रद्धा की ओट में हम चाहे छोड़ दें, परन्तु क्षुद्र वैष्यियक सुखों के लिये मिथ्यादुराचार परनिन्दादि छोड़ने में असमर्थ ही हैं । इसी से श्रीभगवान् सकलशास्त्र सारगर्भित सुधासूक्ति गीता में परम सौभाग्य-शाली अपने परमान्तरङ्गशिष्य एवं सखा अर्जुन से कहा है कि—

" कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।।"
"यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्य भरतर्षभ ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।।"
" कर्मण्येवाधिकारस्ते" "मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि "

यहाँ कर्मों को बाहर से छोड़कर मन से वैषयिक सुख स्मरण करने वाले को मिथ्याचारी तथा विमुढात्मा बतलाया है और मन से इन्द्रियो को नियमन कर कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग करनेवाले को श्रेष्ठ बतलाया है, और कहा है कि 'हे अर्जुन तेरी अकर्म में, अर्थात् वैदिक स्मार्त कृत्यों के अकरण या उपेक्षा मे, सङ्ग अर्थात् आसक्ति नहीं होनी चाहिए। अर्थात् तेरी कर्मों से उपरति नही होनी चाहिये, किन्तु कर्म में ही तेरा अधिकार है, क्योंकि "गुणैर्यो न विचाल्यते" गुणातीत के बिना कोई क्षण भर भी बिना कर्म किये नही रह सकता । किन्तु प्रकृतिज गुणों की प्रेरणा से अवश होकर कायिक,वाचिक तथा मानसिक कुछ न कुछ कर्म करने ही पड़ते हैं ।

"नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
... कार्यते ... प्रकृतिजैर्गुणैः ।।"

अतः शाधकों के लिये तो कर्मसंन्यास से कर्मयोग ही श्रेष्ठ है- 'संन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते'।

यद्यपि **'कर्मणा बध्यते जन्तुः''** कर्म जननमरणाविच्छेदलक्षणा संसृति में छोड़ने वाले हैं, तथापि भगवदाराधन बुद्धि से भगवच्चरणाम्बुज में समर्पित हुए वर्णाश्रमानुकूल यज्ञतपदानादि कर्म मुक्ति तथा भगवत्प्रापित के हेतु हो जाते हैं—**'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि', 'यत्करोषि, तत्कुरूष्व मदर्पणम्', 'शुभाशुभफलैरेवं', ' मोक्ष्यसे कर्मबन्धनात्', स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दन्ति मानवाः'** इत्यादि लोक में भी देखते हैं कि विष मारक होता हुआ भी विशिष्टि औषध के योग से आरोग्यजनक हो जाता है । इसी वास्ते वेद भगवान् भी आज्ञा देते हैं **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्, जिजीविषेच्चत तर्हि कर्माणि कुर्वन्नेव जिजीविषेत्, रागप्राप्त त्वाज्जिविजिषा न विधेया'** अर्थात् जीना चाहे तो कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा क़रें, क्योंकि 'एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते[१]; ऐसा करने से तू स्वाभाविक अर्थात् पाशविक कामकर्मज्ञानलक्षण मृत्यु से बच जायगा।

प्रश्न–गीता में कर्मयोग से भगवान को क्या विवक्षित है? आजकल इस विषय में प्राणियों की बहुधा विप्रतिपत्तियाँ हैं, कोई कहते हैं कि देश—सेवा ही कर्मयोग है, कोई व्यापार और कोई अन्यान्य समस्त लौकिक कृत्यों को सुचारु-रूप से करने को कर्मयोग बतलाते हैं।

उत्तर–भगवान् को शास्त्रादिष्ट वर्णाश्रमानुसार संध्या, स्वाध्याय; अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमासादि यज्ञ तप दानादि ही मुख्यरूप से कर्मयोग पद से विवक्षित है, क्योंकि भगवान् कर्तव्याकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र को ही प्रमाण बतलाते हैं । जो अकर्तव्य की व्यवस्थायें शास्त्रातिरिक्त

१. इससे भिन्न और कोई प्रकार नहीं है कि जिससे नरमात्राभिमानी तुझमें कर्म (पापकर्म) का लेप न हो।

प्रमाणों से जानी जा सकें उनमें शास्त्र का कोई सम्बन्ध ही नहीं है, जैसे कि चक्षुरिन्द्रिग्राह्य रूप के लिए श्रोत्रादि की आवश्यकता नहीं है। अयोग अन्य-योगव्यवच्छेदपूर्वक ही असाधारण सम्बन्ध निश्चित होता है। चक्षु से ही रूपोपलब्धि होती ही है। यदि चक्षुव्यतिरिक्त इन्द्रिय से भी रूपोपलब्धि हो, अथवा कभी आलोकादि सहकृत निर्दोष चक्षु से रूपोपलब्धि न हो, तो चक्षु का रूप के साथ असाधारण सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। इसी तरह जो कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य शास्त्रातिरिक्त प्रमाणों से न जाने जा सकें और केवल शास्त्र से ही जाने जाय, उन्हीं कर्तव्य तथा अकर्तवयों की व्यवस्था में शास्त्रों की आवश्यकता या प्रमाण्य है।

गीतोक्त कर्मयोग का तात्पर्य यदि प्रत्यक्षादि प्रमाण से अथवा लौकिक अन्वय-व्यतिरेकादि युक्तियों से,जिनके साध्य-साधनभाव सिद्ध हैं, ऐसे उपर्युक्त व्यापारादि में ही होता तो, 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य' 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणंते, इत्यादि से शास्त्रों के समाश्रयण की आवश्यकता न करने से नहीं होती, अतः अन्वय और व्यतिरेक से ही प्राणी क्षुधानिवृत्ति में भोजन का हेतु जानकर परवृत्त होता है। अतः भोजन में मानान्तराप्राप्त विधायक, प्रमाणान्तर से अज्ञात अर्थ के विधान करने वाले, शास्त्रविधि की आवश्यकता नहीं है। वैसे ही कृषि वाणिज्यादि करने से अभिलषित धन की प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं होती। इस रीति से प्रत्यक्ष, अनुमान आदि सिद्ध साध्यसासधनभाववाले कर्तव्याकर्तव्यों में भी अपूर्व विधायक शास्त्रविधि की आवश्यकता नहीं है। अतएव राग या द्वेष से ही प्राप्ति में ही व्यवस्थार्थ परिसंख्या है।

अभिपराय यह है कि शास्त्ररहस्यमीमांसकों की ऐसी मर्यादा है कि "**विधिरत्यन्तमप्राप्तौ**" अत्यन्त अप्राप्त में ही विधि होती है। जहाँ मानान्तर से प्राप्ति है वहाँ परिसंख्या आदि माने जाते हैं। "**द्वयोः शेषिणोरेकस्मिन् शेषे द्वयोः शेषयोरेकस्मिन् शेषिणि नित्यप्राप्तौ शेष्यन्तरस्य**

शेषान्तरस्य वा निवृत्तिफलको विधिः परिसंख्या'' अर्थात् अनेक शेषियों में एक शेष की अथवा एक शेषी में अनेक शेषों की नित्यप्राप्ति में शेषान्तर या शेष्यन्तर निवृत्तिफलक विधि परिसंख्या विधि कहलाती है । जैसे सुरा, मांस आदि भक्षण में प्राणियों की रागत; नित्यप्रवृत्ति है, अत; तद्विषयक विधि नहीं हो सकती । किन्तु ''**सौत्राण्यां सुरां पिबेत्**'' इत्यादि स्थलों में परिसंख्या से व्यवस्थाविशेष ही विवक्षित है, अर्थात् सुरा पीवे तो सौत्रमणियाग में ही पीवे अन्यत्र नहीं, मांस भक्षण करे तो पंजनखोंका ही, और उनमें भी केवल पाँच का ही । सर्वथापि शास्त्र का तातपर्य स्वाभाविक कामकर्मज्ञान लक्षण मृत्यु से बचाने में ही है, वह सुरामांसादि भक्षण में नहीं हो सकता। वैसे ही धनादि अभिलाषा से नाना प्रकार के व्यापारों में प्राणियों की स्वारसिकी प्रवृत्ति होती है, अतः वहाँ प्रकार या व्यवस्था ही मानान्तराप्राप्त होने से विधेय है ।

ब्राह्मणशास्त्रानुसार याजन, अध्यापन और प्रतिग्रह से ही धनोपार्जन करे; क्षत्रियशास्त्रानुशार युद्धप्रजापरिपालन आदि द्वारा ही, धनोपार्जन करे; वैश्य-कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य से ही शास्त्रानपसार द्रव्योपार्जन करे; अन्यथा नहीं । जैसे दर्शनस्पर्शन आदि में चक्षुरादि की व्यवस्था ही व्यवहारार्थ अपेक्षित हैं। वैसे अप्राप्त व्यवस्था या प्रकार के ही विधेय होने से कृष्यादि की परिसंख्या है । रागतः प्राप्त कृष्यादि की स्वरूण विधेयता नहीं हो सकती, ऐसे ही भोजनादि की भी विधि नहीं, किन्तु अपूर्व भक्ष्याभक्ष्य की व्यवस्थ या प्रकार ही तत्र तत्र स्थलों में परिसंख्यात है।

एवं ''**अन्नं बहु कुर्वीत इति तद्व्रतम्**'' इत्यादि स्थलों में रागतः प्राप्त बह्वन्नकरण (अधिक धन-संग्रह) को अतिथिसत्कारलक्षण भगवदुपासना में नियंत्रित कर व्रत कहा है । वैसे संग्राम, कृष्यादि ही क्यों शास्त्रानुशार भोजन, शयन और मूत्रपुरीषोत्सर्ग तक सभी देहेन्द्रिय, मन, बुद्धयादि

की चोष्टाएँ शास्त्रानुसारिणी होने से धर्मोत्पादक है, और शास्त्रविपरीत ज्योतिष्टोमादि क्रतु भी अनिष्टोत्पादक हैं ।

अतएव शास्त्रों में उक्त सभी चेष्टाओं को सदाचार कहा है , क्योंकि उच्छृङ्खल पाशविकी प्रवृत्ति, बाह्य तथा आन्तर ज्ञानसाधनभूत कारणों की बहिर्मुखता में सहायक होकर, सर्वान्तरतम प्रत्यगातमस्वरूप की नि शेषविशेष-विषयकप्रवृत्तिनिरसनैकसाध्य (अर्थात् समस्त बाह्य विषयक प्रवृत्तियो के निराकरयणमात्र से सिद्ध होनेवाली) उपसाना में, बाधिका है। "**पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्**"।

इस वास्ते जैसे सदयहृदया जननी रोगी पुत्र के रोगनिवृत्त्यर्थ कटुगुडूचिकादि पिलाना चाहती है, परन्तु आपातप्रतिपन्न दुःखविषण्ण अदीर्घदर्शी अबोध बालक को अभिप्रेत सिता सर्करा आदि का प्रलोभन देकर ही पिला सकती है, अन्यथा नही, वैसे ही भगवती श्रुति भी, इतिकृत्यचिन्ता में निमग्न प्रवृद्धलोभ उच्छृङ्खल प्राणी को देहेन्द्रियादियों की स्वाभाविककी प्रवृत्यिों के निरोधार्थ पुत्र, पशु, स्वर्गादि अभिलाषित पदार्थों का प्रलोभन देकर ही वैदिक कृत्यों में प्रवृत्त कराती है । प्रवृद्ध नदी के वेग का सहसा निरोध असंभव है, किन्तु शनै-शनैः युक्ति से वह निरुद्ध हो सकता है; वैसे ही सहसा देहेन्द्रियादि की स्वभाविकी प्रवृत्ति का निरोध असंभव है, अतः प्रथम शास्त्रनियंत्रित प्रवृत्ति करना अपेक्षित है । इसलिये शास्त्रनियंत्रित प्रवृत्ति शनैः शनैः प्रत्यगात्मोन्मुखता की संपादिका होने से धर्म्य है । अतः सिद्ध हुआ कि मुख्यतया मानान्तर से अप्राप्त वैदिक स्मार्त यज्ञ, तप, दानादि ही कर्मयोग है । अतएव कर्मयोग के प्रकरण में कहा है:—

"**त्याज्य दोषवदित्येके**"
"**काम्यानां कर्मणां न्यासः**"
"**यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्**"

इन वचनों से सांख्यवादियों के अभिमत अविशुद्धिक्षयातिशययुक्त दोषवत् वैदिक कर्मत्याग का अनुवाद करके तथा सिद्धान्तैकदेशी के अभिमत निष्काम नित्य- नैमित्तिक यज्ञ, तप, दानादि की कर्तव्यता को दिखलाते हुये अपने मत में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र संग और फल की उपेक्षापूर्वक नित्य-नैमित्तिक की ही नहीं अपितु सभी वैदिक स्मार्त अग्निहोत्रादि की कर्तव्यता बतलाते हैं।

''एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।''

प्रश्न–गीता में **''यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य''** इत्यादि स्थलों में शास्त्र पद से कौन शास्त्र विवक्षित हैं, गीता ही या गीतातिरिक्त वेद पुराणादि भी?

उत्तर–गीतोक्त मुख्य शास्त्र वेद ही हैं, तन्मूलकत्वेन इतिहास पुराणादि भी शास्त्र हैं, अन्यथा नहीं क्योंकि पुरुष निर्मित ग्रन्थों में पुरुषगत भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटवादि दोषों से दूषण की संभावना है। अतः उनको स्वतः प्रामाण्य नहीं है। वेद अपौरुषेय हैं अर्थात् संप्रदायाविच्छेद पुरस्सर अस्मर्यमाणकर्तृक होने से ईश्वरवत् अनादि सिद्ध है। अन्य सभी ग्रन्थों का कर्ता कोई पुरुष सुना जाता है। जिसका कर्ता भी नहीं सुना जाता, उसकी अनाद्यविच्छिन्न संप्रदायपरम्परया प्राप्ति नही है, अर्थात् उनका संप्रदाय विच्छिन्न है। अतः वेदातिरिक्त सभी ग्रन्थों को पौरुषेय होने से उनका स्वतः प्रामाण्य नहीं है। किन्तु वेदों का स्वतःप्रामाण्य है, और वेदानुसारी पौरुषेय ग्रन्थों का वेदमूलक होने ही से प्रामाण्य है। अतः वेद या वेदमूलक स्मृति, इतिहास पुराणादि सभी गीतोक्त शास्त्र हैं। शास्त्रैकसमधिगम्य वर्णाश्रमानुसार स्वाध्याय अग्निहोत्र, चातुर्मास्य, ज्योतिष्टोमादि यज्ञ, कृच्छ्रादि तप और दानादि ही गीतोक्त कर्मयोग है। युद्ध या कृष्यादि मानान्तराप्राप्त व्यवस्था का प्राकारादि विशिष्ट होकर विशेषणांश मे कर्मयोगपदवाच्य है। अतएव संग्राम को धर्म न कहकर धर्म्य अर्थात् 'धर्मयुक्त' कहा है:—''**धर्मादनपेतो धर्म्यः**''

"अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि" इत्यादि।

वेदों में प्राधान्येन यज्ञ-तप-दान ही कहा गया है। अतः शास्त्रैकवेद्य कर्मयोग यज्ञ-तप-दान ही है। यज्ञ भी मुख्य अग्निहोत्रादि ही है, जो यज्ञोपवीतादि संस्कारपुरस्सर संध्या गायत्री जप, गुरु अग्निशुश्रषा सहित ब्रह्मचर्य से वेदवेदांगाध्ययनानन्तर दारपरिग्रह, अग्न्यायाधानपूर्वक वैदिक पद्धति से ही किया जा सकता है, नकि अविधि पुरस्सर लोहकुण्ड पर लकड़ी रख कर चावल छोड़ देने से। प्राणायमादि गौण यज्ञ हैं, इसी वास्ते ज्ञानयज्ञ में भी, मुख्य यज्ञमें अपेक्षित स्त्रुव, हविष्य, अग्नि आदिका रूपक रखा है:—**"ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः।"**

अग्निहोत्र मुख्य कर्म को ही सृष्टि का उपोद्बलक कहा है। **"यज्ञाद् भवति पर्जन्यः"** यहाँ यज्ञ वेद प्रतिपाद्य ही है। **"कर्म ब्रह्मसमुद्भवम्"** कर्म, ब्रह्म अर्थात् वेद से ही, समुद्भूत है ! 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' अर्थात् ब्रह्म (वेद) अक्षर परमात्मा से समुद्भुत है। इसी वास्ते सर्वज्ञ परमात्मा से प्रादुर्भूत होने वाले वेदों से ही कर्म का उद्गम है, अतः स्वतः प्रमाण वेदों से विदित यज्ञादि कर्मों से ही सृष्टि का पोषण होता है ।

यद्यपि द्रव्ययज्ञ-पक्ष से ज्ञानयज्ञ तथा जपयज्ञ-पक्ष को श्रेष्ठ बतलाया है, तथापि द्रव्ययज्ञ की कर्तव्यता अवश्य बतलाई गई है। उनके न करने में मुख्य कर्मयोग के ही नहीं, अपितु धर्मोपेत संग्राम के भी न करने पर कीर्ति और पाप कहा है—

"श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परंतप "
"यज्ञानां जपयज्ञोस्मि "
"अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रमं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्म कीर्ति चे हित्वा पापमवाप्स्यशि।।"

यह कर्मयोग भगवान् ने साधक के लिए ही नहीं, अपि तु अपना दृष्टन्त देकर तत्वदर्शियों के लिये भी कहा है:—**'न मे पार्थास्ति कर्तव्यम्' "लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि"।**

श्री भागवत में भी **"धर्मान् भागवतान् ब्रूत"** राजा निमि के ऐसा प्रश्न करने पर कवि योगीश्वर ने

"यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न पतेन्न स्खलेदिह ।।"

इत्यादि भागवत धर्मों की प्रशंसा करने के पश्चात् शास्त्रानुसार कायिक, वाचिक तथा मानस कर्मों को भगवान् में समर्पण करना, यही भागवत धर्म का स्वरूप बतलाया है ।

"कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वाऽनपसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पये तन।।"

महात्मा तुलसीदासजी ने भी, जिनसे अधिक भगवन्नाम की महिमा का वर्णन सम्भवतः किसी ने नहीं किया होगा, वेदाध्ययन तदर्थानुष्ठान को भगवभक्ति में अत्यावश्यक माना है ।

"शोचिय विप्र जो वेद विहीना"
"जो कोइ दूखइ श्रुति करि तर्का, परहिं ते कोटि कल्प भरि नरक ।"
"भक्तिके साधन कहौं वखानी, सुगम पंथ मोहि पावहि प्राणी।"
"प्रथमहि विप्रचरण अतिप्रीती, निजजि धर्म निरत श्रुति नीती ।"

आज कल सभी कृत्य भगवदुक्ति या भगवद्क्तोक्तियों के विपरीत दिखाई देते हैं । कुछ महानुभावों की यद्यपि भगवन्नामकीर्तनादि नें रुचि दिखायी देती है, तो भी उकी शास्त्रों रुचि ही नहीं अपितु घृणा या अवहेलना बुद्धि दिखाई देती है । वे कहते हैं—

"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

अर्थात् वेद तो त्रैगुण्य संसार का ही प्रतिपादन करते है, बतलाते हैं । उनका ऐसा कहना आश्चर्य नहीं है, क्योंकि उन्होंने विधिपुरस्सर

गुरुपरम्परा से शास्त्रों का अध्ययन तो किया ही नहीं है, मनमुखी विद्या से शास्त्र का गंभीर तात्पर्य समझे भी कैसे? उनकी दृष्टि में

"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि"
"नावेदविन्मवनुते तं बृहन्तम्"
"वैदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः"
"वेदविदेव चाहम् "
"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति"
"मां विधत्तेऽभिधत्ते च विकल्प्यापोह्यते त्वहम् "
"नान्यो मद्वेद कश्चन"

ये वचन आते ही नहीं, और यदि द्रृष्टि में भी हैं, तो भी वे उनके अभिप्राय के ज्ञान से वंचित रहते हैं। इस तरह जिन्हें वेदों के तात्पर्य्य निश्चित नहीं है, वे ही वेदों को साध्यसाधनात्मक त्रैगुण्य संसार माहात्म्य सूचित होता है उपनिषदों तथा वेदों का अन्नत माहात्म्य सूचित होता है । वेदों के महातात्पर्य के विषय तो भगवान् ही हैं, केवल अवान्तर तात्पर्य्य के ही विषय कर्मादि हैं । उनका भी तात्पर्य्य अन्तःकरण शुद्धि द्वारा भगवान् के साक्षात्कार में ही हैं ।

एवं कुछ महानुभाव शास्त्रों को मानते हुए भी अर्ध-जरतीयन्याय का अनुकरण करते हैं।

"प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्राय नेच्छन्ति"

इत्यादि श्रुति-निषेध का उल्लंघन करके प्रणवचुक्त मंत्र या केवल प्रणव के भी कीर्तन[१] को मोहवश कल्याण समझते हैं, तो कोई महानुभाव भगद्गीतोपनिषद् में मनुष्यमात्र को अधिकारी मानने के आग्रह में —

---

१ "मन्त्राशास्त्रेषु ये मन्त्रा जपार्थ ते प्रकीर्तिता ।
राकारो बिन्दुना युक्तश्चैकवर्णात्मको मनुः ॥
अयं सदा जपनीयो कीर्तनीयो नवे कदा ।
मम नामास्तु युष्माक रामेति जगतीतले ॥

''नाध्यापयेद् द्विजः शूद्रं तथा नैव च याजयेत्
इतिहासं पुराणं च काव्यं नाटकमेव च।
शूद्राय चोपदेष्टारं द्विजं चाण्डालवत् त्यजेत्
तेनोपदिष्टो यः शूद्रः स भुङ्क्त्व नरकान् क्रमात्।
अनेकासु जनित्वा च कुत्सितास्वरपि योनिषु।

इत्यादि वचनों से उप देष्टा और शूद्र जोनों का अकल्याण देखते हुए भी निषेधातिक्रमण का साहस करते हैं । वे स्वयं विधि-पूर्वक वेदांगाध्ययन-विरहित होने से शास्त्राभिप्राय समझते ही नहीं । शास्त्रीय मिमांसारहस्य श्रीशंकर भगवत्पाद, मिताक्षराकार आदि आचार्यों के निर्णय में भी उन्हें श्रद्धा नहीं है, फिर इससे बढ़कर और उपाय ही क्या है? कुछ महामति, सनातनधर्म के सिद्धान्त से अनभिज्ञ होने से अथवा दुराग्रहमहाग्रहगृहीत होने से,ऊपर से वर्णाश्रमी होने पर भी, सनातनधर्म पर कुठाराघात करते तहें । जिस प्रवचन या उपदेश के लिए मनु जी केवल ब्राह्मण को अधिकारी बतलाते हैं, उसमें मोहवश ब्राह्मणेत्तर होकर भी अनधिकार चेष्टा करते हैं।

युष्मांकं मयि सद्भक्तिः पुरुषेभ्योऽपि चाधिका।
देवे धर्मकथायाञ्च विप्रे भक्तिर्भविष्यति ॥
नान्यो मन्त्रोस्ति नारीणां शूद्राणां चापि भो द्विज।
सर्वेभ्यो मन्त्र वर्य्येभ्यो रामस्यायं मनुर्वरः ॥

अर्थात् राम जी ने कहा कि हे स्त्रियों! मेरे नाम में तुम्हारा नाम हो। देव, धर्म ब्राह्मण तथा मेरी कथा में तुम्हारा प्रेम पुरुषों से अधिक हो। स्त्री और शूद्र के लिये राम नाम से अन्य कोई मन्त्र नहीं।

त्रैवर्णिवों के लिये भी प्रणव-उच्चारण की यह विधि कि—

प्राक्कूलान्पर्य्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः।
प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओंकारमर्हति ॥

अर्थात् कुशाओ पर बैठकर पवित्रों से पवित्र होकर और तीन प्राणायामों से पव्तिर होकर फिर ओंकार उच्चारण के योग्य होता है।

"अधयेतव्यमिदं शास्त्रं ब्राह्मणे न प्रयत्नत:।
शिष्येभ्यरेश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ् नान्यंन केनचित् ।।

याजनाध्यापन तथा प्रतिग्रह में सभी शास्त्र एक स्वर से ब्राह्मण को ही अधिकारी बतलाते हैं । परन्तु कुछ लोग जो ब्राह्मणओं की वृत्ति है उस प्रतिग्रह या प्रवचन में छल से प्रवृत्त होकर, ब्राह्मणवृत्ति के उच्छेदक हो रहे हैं अधिकारी नहीं है ऐसा कहकर दानादि में स्वयं ही जप करना, दूसरे से न करना, इस बहाने से वे ब्राह्मणों का निराकरण का प्रयत्न करते हैं तथा अनेक छद्मों से ब्राह्मणवृत्तियों का पहरम करते हैं । इन लेगों की दृष्टि में

"स्वदत्तां परत्तां वा ब्रह्मवृत्ति हरेच्च य:।
षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमि:।।"

इत्यादि बचनों का कोई मूल्य ही नहीं है ।

प्रश्न–प्रवचन में तो आजकल ईसाई और अंग्रेज भी प्रवृत्त हो रहे है; जो कि आप के धर्मों को मानते भी नहीं, पर यह बेचारे पूर्वोक्त उपदेशक आदि को आस्तिक हैं, आप के धर्मों को तो मानते है, फिर इनके प्रवचन या ग्रन्थनिर्माण में क्या हानि है ?

उत्तर– अनास्तिक की अपेक्षा सर्वनास्तिक ही प्रजा के लिए अच्छा है । बाहर के शत्रुवेषभूषित शत्रु से बचने का उपाय सरल है, परन्तु अपने ही भीतर और मित्रवेषभूषित शत्रु से बचना असम्भव है । ऐसे सर्वनास्तिकों के कुचक्र से तो प्रजा को कुचक्र में तो सती शिरोमणि सीता जैसी प्रजा भी वंचित हो जायगी । विजातीय आयसकुठार मात्र से वृक्ष नहीं कट सकता, सजातीय काष्ठदण्ड क योग से ही वृक्ष को भीति होती है अत; शास्त्रों को किसी अंश में मानने वाल् आस्तिकाभास से ही वेदभगवान् डरते हैं ।

"बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति"

प्रश्न–तथापि आज कल लोगों को प्रायः ब्राहण विद्वानों में श्रद्धा तो है ही नहीं, इन्हें निर्लोभ समझ कर इन लोगों के बचनों में श्रद्धा करें, तो भी धर्म की उन्नति ही होगी?

उत्तर–यह भी इन लोगों की कुचेष्टाओं तथा ज्ञान का ही दुष्परिपरम्परया शास्त्र तद्रहस्यादि के अध्ययन पर्यालोचन में व्यतीत हुआ है, उनमें तो प्रजा की श्रद्धा नहीं हैं, पर जो आचार्य-परंपरा से शून्य होने के कारण शास्त्र तात्पर्यानभिज्ञ ही नहीं, अपितु शास्त्र के स्थूल अर्थ के ज्ञान से भी विरहित हैं, उनके बचनों में श्रद्धा है। ऐसे अनधिकृत लालबुझक्कड़ों के उपदेश से धर्म की क्या उन्नति हो सकती है? प्राणी के हस्तपादादि समस्त अङ्ग परस्पर ऐक्यमत्य होकर व्यवस्थापूर्वक अपने अपने कृत्य करते हुए शरीरयात्रानिर्वाहक होते हैं, भक्षणकर के मुख सभी अङ्गों का पालन करता है। हस्त सभी अङ्गों पर आई हुई विपत्तियों के हटाने के लिए स्वयं अग्रगामी होता है। अभिप्राय यह है कि कोई अङ्ग भी यदि ईश्वरीय नियमानुकूल स्वकृत्य से विमुख होकर अनधिकार चेष्टा करे, तो सभी पर विपत्ति ही आवेगी। ठीक वैसे ही सर्वात्मा भगवान् को मुख,बाह्वादि स्थानीय ब्राह्मणादि वर्ण मोहवश परमेश्वरादिष्ट असाधारण स्व स्व व्यापारों की उपेक्षा कर अस्वाभाविक अनधिकार चेष्टा करें तो परस्पर एक दूसरे का ही नहीं, किन्तु अपना भी सर्वस्व नाश कर बैठेंगे।

लोक में भी देखते हैं कि जिसका जो जन्मप्राप्त असाधारण विषय है,वह उसमें ही चपल होता है । राष्ट्र परिपालन राजा का असाधारण कृत्य है, अतः चाहे कोई प्रबल शत्रु का आतङ्क हो या न हो, राजा दलबल सहित संग्रामिक नीतियों के अनुसार सामग्री संपादन में सतत तत्पर रहता है, ताकि जिस समय भी शत्रु का आक्रमण हो, उसी समय लड़ने को तैयार हो जाय । यदि यह सर्ववर्णसाधरण का कृत्य होता, तो नियमेन असाधारण रुप से सामग्री-संपादन मे शिथिल होकर आक्रमण काल में उसे पराजित होना पडता । ब्राहण उन शास्त्रों की रक्षा में तत्पर

है। उनको एतद्देशीय ही बुद्धिमान् नहीं अपितु बाह्य पाश्चात्य यज्ञादियों के प्रकारों का जानना तथा जनाना अनुपयुक्त होने से नितान्त अनावश्यक है, परन्तु निःस्पृह निजधर्मैकपरायण दीर्घदर्शी वे ब्रह्मकुल चूड़ामणिपुरुष धौरेय आज भी उन अश्वमेधादि कृत्यो के आकार-प्रकार को जानना और जनाना अपना परम कर्तव्य समझकर निरन्तर उद्युक्त हैं । एवं भौतिक चमत्कृतियों की चका चौंध में समावृत्तह्यदयपटल प्राणियों की दृष्टि में गड़रियों के गीत गाहे जाने वाले वेदों तता उनके गंभीर विचारात्मक मीमांसा, न्याय, सांख्यादि एवं दुपोद्वलक व्याकरण, छन्द, निरूक्तादि महागम्भीर शास्त्रों के अध्ययनाध्यापन में निरत हैं । वे समझतें होंगे कि ये अबोध बालक कभी अपने दुर्विचार और दुष्कृत्य के दुष्परिणाम से टकरा कर हमारी शरण में आकर हमारी बात सुनेंगे । जब कभी इन्हें वेद-शास्त्रादि अध्ययन, तदर्थानुष्ठान की आवश्यकता मालूम पड़ेगी, तब हमी को सिखलाना पढ़ाना पड़ेगा । ठीक ही है, तभी तो इनकी उदारता या प्रजावत्सलता पर प्रसन्न होकर कमलापति ने इनके चरणांबुज को अपने ह्यदय का भूषण बनाया और ब्राह्मणों की पूजा में प्रेमप्रमत्त श्रुतदेव की जरा सी अनवधानतात को सहन न करके कहने लगे:—

''न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपनेतच्च्वतुर्भुमेम् ।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्ववेदमयो ह्यहम् ।।''
''जन्मना ब्राह्मणः श्रेयान्''

अर्थात् यह मेरा चतुर्भुज रूप भी मुझे ब्राह्मण से प्रिय नहीं है। मैं सर्वदेवमय हूँ, तो ब्राह्मण सर्व वेदमय हैं । ब्राह्मण जन्म से ही श्रेष्ठ हैं ।

इसलिये भगवान समझते हैं कि आज घोर कलिकाल में भी मेरे अस्तित्व के अवद्योतक शास्त्रों की रक्षा से मेरे प्रतिष्ठापित लोकसांकर्य-निवारक वर्णाश्रमधर्म की और मेरे अस्तित्व की रक्षा ब्राह्मण ही कर रहे हैं । यदि ऐसा न होता तो श्री विष्णु राम शिव इत्यादि नाम भी

कैसे अवशिष्ट रहते ? अतः कहन लगते हैं.—"**वप्रप्रसादाद्धरणीधरोऽहम्**" "**नमो ब्रह्मण्यदेवाय**"—इतना ही नहीं 'ब्राह्मणानामुपासकः' इत्यादि पदवी से अपना गौरव भी मानते हैं ।

गोस्वामी जी भी अपने राम के आदेश को इस तरह सुनाते हैं—

"पूजिय विप्र सकल गुण हीना"
"मोहि न सुहाय विप्र कुलद्रोही"

अव आप ही सोचिये की यदि अध्यापनादि ब्रह्मणों का असाधारण धर्म न होता, तो ब्राह्मण शास्त्रों की रक्षा कैसे कर सकते? कहिये आज कितने क्षत्रिय, वैश्य, वेदादि शास्त्राश्यास में लग रहे हैं?

योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।।

इस मनु की भेषजरूप उक्ति की उपेक्षा ही नहीं, किन्तु इसके विपरीत वंचना से कुछ लोग वेद-शास्त्र के नाश का सर्वथा उपाय कर रहे हैं । वे अपनी कृषि, व्यापार आदि वृत्ति में सन्तुष्ट रह कर ब्राह्मणों की वृत्ति का अपहरण करते हैं, जिसके कारण वृत्तिविहीन ब्राह्मणों को अध्यापन प्रतिग्रह आदि से व्यतिरिक्त वृत्ति का अवलम्बन करना पड़ता है, ऐसी अवस्था में शास्त्रों की रक्षा में बाधा पहुँचना अनिवार्य है। जिन बड़े बड़े ग्रन्थों का, कन्द-मूल-फल से निर्वाह करने वाले वल्कलधारी ब्राह्मणों ने, निर्जन वन में समाधि द्वारा, रजोगुण तमोगुण हीन विशुद्ध मन से निर्माण किया था, आज उन्हीं गारन्थों की परकीय व्याख्या का अपहरण कर भाष न्तर में पृष्ठ-मात्र के अनुवाद के लिये कैसा प्रयत्न कर रहे है, उसके लिये यही निदर्शन पर्याप्त है ।

क्या इसे भी वैश्य-वर्णानूसार व्यापारवृत्ति कहा जा सकता है ? क्रय-विक्रय का नाम शास्त्रों में व्यापार कहा जाता है । यदि ऐसा नहीं तो दक्षिणा लेकर वेद पढ़ाना भी व्यापार हो सकता है, अतः उसे भी वैश्य का ही धर्म मानना पड़ेगा ।

भगवान् की गीता तो **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः'** इत्यादि वचनों से भगद्भक्तो के लिए स्वधर्मनिष्ठा की आवश्यकता बतलाया है । आजकल के भक्तों के मत में सन्ध्या, गायत्री, वैश्वदेव, श्राद्ध-तर्पण आदि की आवश्यकता ही नहीं है ।• ब्राह्मण द्वारा साध्य नाना प्रकार के पाठ पूजा आदि के स्थान में नाम-कीर्तन की ही नियुक्ति ठीक समझी जाती है । यद्यपि भगवन्नाम सर्वोत्कृष्ट एवम परम माननीय है, तथापि ब्राह्मण आदि साध्य यज्ञ तप दान सभी कार्यों में भी उसी का उपयोग करना उचित नहीं है। उसमें भी देश काल की अपेक्षा ही है, जैसे यद्यपि **'राम नाम सत्य है'** यह सोलह आने सत्य है, तथापि यदि किसी के पुत्रोत्सव या विवाहोत्सव में कोई उक्त वाक्य का उच्चारण करे, तो वह अमङ्गल समझा जाता है । अत; वहाँपर उसके उपयोगी मङ्गलाचरण ही ठीक हैं । वैसे ही भिन्न भिन्न कार्यों में वेदबोधित भिन्न भिन्न विधियाँ की उचित है और उनके साथ ही नाम का प्रयोग भी उचित है याद रहे कि गीता में स्वधर्म नहीं है अर्थात् असाधारण नहीं है क्योंकि वह तो सभी वार्णियों तथा आश्रमियों का कर्त्तव्य है ।

इससे भगवन्नामसंङ्कीर्तक की न्यूनता समझ लेना नितान्त् अभिज्ञता है। बहुना स्वधर्म-साध्य भगवत्तत्त्वज्ञान भी सर्वजनसाधारण की अभिलाष तथा अधिकार का विषय होने से साधारण ही धर्म हों । तुलसीदास जी 'निज निज धर्म-निरत श्रुति नीती' का आदेश देते हैं ।

रामायणप्रेमी कुछ महानुभाव कहते हैं कि 'कीर्तनकरनेवालों की सन्ध्या देवता कर लेते है अतः उन्हें सन्ध्या की आवश्यकता नहीं'।

• कीर्तन की भी विधि है। प्रचलित संकीर्तन, जिसमे प्रणव तथा अन्य जाप्य मन्त्रो का गान होता है, सर्वथा निषिद्ध है, यथा—"राकारो बिन्दुना युक्तश्चैकवर्णात्मको मनु.। अय सदा जपनीयो कीर्तनीयो न वै कदा।। मन्त्राशास्त्रेषु ये मन्त्रास्ते जप्या एवं मानवैः।" संकीर्तन वाले गीता ही दूसरे है, यथा—"राजीवलोचन मेघश्याम। सीतारञ्जन राजाराम। दशरथनन्दन मेघश्याम। रविकुलमण्डन राजाराम। इमे मन्त्राः कीर्तनार्थं ज्ञातव्यामानवोत्तमैः।' (आनन्दरामायणे)

एवं कुछ मान्य-गण्य महापुरुष भी गोपियों का दृष्टान्त देकर 'भगवद्गुणनुवाद में कर्मकाण्ड की आवश्यकता नहीं है' ऐसा कहते हैं। एवं 'चाण्डालयोनिं वा प्रपद्यन्ते' इत्यादि वेदबोधित अस्पृश्य जाति का अपलाप कर 'कामी तथा क्रोधी ब्राह्मण आदि को ही अछूत बतलाते हैं।

इन महानुभावों से कोई पूछे कि नामकीर्तन या गुणानुवाद करनेवालों के सन्ध्या या कर्मकाण्डमात्र ही देवता कर देते हैं या उनके और लौकिक कृत्य भी देवताओं पर ही निर्भर हैं। पुत्रोत्पादन आदि गृहकृत्य भी क्या देवता नहीं कर लेंगे? द्रव्योपार्जन की आवश्यकता है कर्मकाण्ड की नहीं? शिष्टजन गर्हित काञ्चनकामिनी का किंकर होना ठीक है, शिष्टसमादृत परम कल्याण का निदान वेदकिंकर होना लज्जाजनक है? और यदि इन महानुभावों का सभी के लिए सर्व कृत्य उपेक्ष्य है ऐसा अभिमत है तो अनुयायियों सहित इन महानुभावों को भोजन आदि कृत्य उपेक्ष्य क्यों नहीं है? आगे होनेवाले इस प्रकार के साहसों को ही दृष्टि में रखकर वेद भगवान् कर्मानुष्ठान का **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्'** इत्यादि से आग्रह करते हैं। कर्म छोड़कर केवल उपासना में लगें हुए प्राणी को भयङ्कर-अन्धतम की प्राप्ति बतलाकर समुच्चय के लिए केवल उपासना की निन्दा की है।

"अन्धंतम प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमे य उ विद्यायां रताः।।"

स्मृति भी विहित के अकरण को पतन का हेतु वतलाती है-

"अकुर्वन विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसज्जंश्चेन्द्रियस्यार्थे नरः पतनमृच्छति।।"

(मनु० ११। ४४)

"न कर्माणि त्यजेद् योगी।"

आज कल इन कीर्त्तन-समर्थकों के व्याखानों में वेदपाठ यज्ञ तप दान सभी कीलित हैं। इनमें कुछ नहीं हो सकता, श्राद्धतर्पणादि की कोई आवश्यकता नहीं है, नामकीर्तनादि ही एक मात्र समाश्रयणीय है; ऐसा उपदेश दिया जाता है। भगवत्कीर्तनादि में परमापेक्षित "स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम्" के अनुसार विधर्मत्यागपूर्वक स्वधर्मानुष्ठान के उपदेश पर आदर नहीं है, यदि कहीं अभियुक्त कुछ हितोपदेश करते हैं, तो उन्हें राक्षसाविष्ट या हिरण्यकशिपु तक बताने का दुःसाहस करते हैं। कितने ज्ञानलवदुर्विदग्ध पठित ब्राह्मण भी संध्यादि कृत्यको तिलांजलि दे बैठे हैं। संध्यादिकृत्य करना ही मानो 'प्रिया जी' के सामने भित्ती खड़ी करना है।

कुछ भक्तों की राय में ये लोग श्रीमद्वल्लभाचार्य प्रभृति आचार्यवर्यों से भी अधिक अव्यवहित भक्ति के अधिकारी होंगे, क्योंकि वे भी तो स्वधर्म में सम्यक् श्रद्धा रखते थे।

एवं भगवन्नामसङ्कीर्तन की ओट में सुधारकों को शास्त्रसिद्ध स्पृश्यास्पृश्य मिआि देने का बड़ा ही सुन्दर मौका मिल गया। कीर्तनमण्डल में तो एक म्लेच्छजातीय भक्त के साथ सहभोज भी हुआ। कुछ लोग सत्यनारायण की कथा-कीर्तन का निमन्त्रण देकर बेचारे भोले-भाले सनातनियों को बुलाकर अस्पृश्यतानिवारण का उपदेश देते हैं, अस्पृश्य तथा अव्यवहार्य लोगों के हाथ से प्रसाद बँटवाते हैं, और कहते हैं—

"जाति पाँति पुछय नहिं कोई।
हरि को भजइ सो हरि को होई।।"

अरे भाई, हरि का तो सभी जगत ही है, परन्तु व्यवहार तो सिंह, शृगाल आदि का भी विभिन्न ही होता है। यदि उनके हाथ से प्रसाद लेने में कोई संकोच करे तो कहते हैं—**"देखो, राजा ने गोप**

के हाथ के प्रसाद की उपेक्षा की, तो उसके सभी पुत्रादि नष्ट हो गये।"

ये सभी बातें धर्म के विपरीत है।

यद्यपि वे लोग इन छद्मों से इस प्रकार के भेदभाव मिटा कर अन्त्यज आदि का उद्धार देश का उद्धार समझते हैं परन्तु यह शास्त्र-विपरीत मार्ग उलटे पतन के ही निदान हैं। वैसे शास्त्रानुसारी वर्णाश्रमी भी तो अन्त्यजोद्धार देशोद्धार आदि चाहते हैं, परन्तु वे शास्त्रीय या शास्त्राविरुद्ध मार्ग से ही ऐसा चाहते हैं। अतएव वे तो प्रतिदिन ही पूजा-पाठ के अन्त में, **'सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु देशोऽयं क्षोभरहितः'** इत्यादि प्राणिमात्र के कल्याण के लिए, परमेश्वर से प्रार्थना किया करते हैं, फिर अत्यन्त आदि तो मनुष्य होने के कारण परम कल्याण के अधिकारी हैं। हिन्दूशास्त्र परमेश्वर की भक्ति से नीचातनीचों की भी वह गति बतलाते हैं, जो एक स्वधर्मबहिर्मुख ब्राह्मण के लिये स्वप्न में भी दुर्लभ है। हिन्दुओं का अद्वैतशास्त्र तो परमार्थतः **"साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।, शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः"** इत्यादि समदर्शनका स्पष्ट पाठ पढ़ाता हैं। फिर ऐसा साम्यवाद किस सिद्धान्त में मिलेगा? किन्तु ईश्वर तथा शास्त्र पर विश्वास रखने वाले समाज में शास्त्र का आदर तथा तदनुसार ही व्यवहार होना अनिवार्य हैं।

वस्तुतः एक अद्वितीय परमार्थिक आत्मतत्त्व की ही समता हो सकती है, तद्व्यतिरिक्त प्राकृतप्रपञ्च तो सत्त्वरजतम की विषमता से ही बना हुआ है। विषमता के नष्ट होने पर तो प्रपञ्च का प्रलय ही होगा। चार्वाक को छोड़ कर प्रायः सभी सुखदुःख तथा शुभाशुभ शरीरों की प्राप्ति में धर्माधर्म को ही हेतु मानते हैं। इसी वास्ते संसार में विचित्र देह तथा विचित्र सुख-दुःख देखने आते हैं। एक ही राजा के चार पुत्रों में कोई अनेक रोगसंक्रान्त होता है और कोई हृष्ट पुष्ट। फिर

जब एक हाथ की अँगुलियाँ भी बराबर नहीं है, तब बिना काट-छाँट के बराबरी कैसे बनेगी? साम्याभिलाषुकों को वस्तु स्थिति पर पूरा ध्यान देना चाहिये । हाँ, प्रथम शास्त्रविरुद्ध शक्य वस्तुओं में समता करने का प्रयत्न करना चाहिये । बड़े-बड़े मान्यगण्य नेताओं तथा धनियों को प्रथम अपनी धन सम्पत्ति का यथोचित विभाग करना चाहिये, पर सो तो किसी से भी होना असम्भव ही है ।

मुख्य रूप में अन्त्यजोद्धार तो यही हो सकता है कि शास्त्र से अविरुद्ध उनको विविध प्रकार की उन्नतियों का पात्र करना चाहिये । क्षुधातुरों को अन्न का प्रबल्ध करना चाहिये, पिपासुओं को जल के लिये औषधों का प्रबन्ध अच्छी तरह से किया जना चाहिये । सच्चे हिन्दू वे ही हो सकते हैं जो दया के आकर हों । भला वे दु:खी रोगी पड़े हुए प्राणिमात्र पर हृदय से दु:ख निवृत्ति के लिये प्रयत्न क्यों नहीं करेंगे?

शास्त्रीय सिद्धान्त तो यह है कि गृहमेधीय के पोष्यवर्गों में स्त्री पुत्र के समान शूद्र अन्त्यज भी आते हैं । उनकी सर्वप्रकार ककी रक्षा का भार त्रैवर्णिकों पर ही है । अत: उनके लिये अन्न, वस्त्र-जल,-औषधादि सभी सामग्रियाँ त्रैवर्णिकों को ही सम्पादन करनी चाहिये ।

रन्तिदेव की कथा प्रसिद्ध है कि बहुत दिन के उपवास के अनन्तर व्रतपारण के लिये कुछ सत्तूमात्र प्राप्त था । वह भी क्रमश; आये हुए कई अतिथियों को दे देने के बाद जलपान के लिये जब वे बैठे, तब एक अन्त्यज ने आकर क्षुधा प्रकट की, उस समय उन्होंने जो कुछ भी उपस्थित था, वह उसे ही देकर, उसकी तृप्ति के लिये परमेश्वर से प्रार्थना की कि "हे नाथ! सभी दु:खियों का दु;ख हमें ही मिल जाय, प्राणमात्र सभी सुखी हो जायँ ।" इससे सुष्पष्ट ही है कि हिन्दूधर्म में प्राणिमात्र पर प्रेम की स्यिति कैसी है । रह स्पर्शास्पर्श. मंन्दिर प्रवेश तथा रोटी-वेटी का व्यवहार से तो शास्त्रविरुद्ध होने से शास्त्र मानने

वालों के निये असम्भव ही है। थोड़ी देर के लिये माना कि ऐसा हो भी जाय तो भी इसमें ऐहिक या आमुष्मिक किसी प्रकार के लाभ की सम्भावना नहीं; कारण यवनादियों में उक्त भेद नहीं है, तो क्या उनमें कोइ दुःखी नहीं है ? यवनों में भी कोई कोट्यधिपति है, कोई रोटियों के लिये तरसता है। दोनों में क्या किसी प्रकार की समता हो सकती है ?

इसी वास्ते निरर्थक बातों का आग्रह छोड़ कर ऐहिक आमुष्मिक वास्तविक उन्नतियों का प्रयत्न करना चाहिये। यदि उन्हें धर्म में आस्था ही न हो तो वे लोग कितेने दिन हिन्दू रहेंगे ? आखिर समानता तो संसार में कोई भी देने में समर्थ नहीं। फिर इनकी किसी भी धर्म में स्थिति कैसे हो सकेगी? धर्म वह वस्तु हैं जिसके लिये गुरु गोविन्दसिंह के छोटे-छोटे बच्चों ने मरना स्वीकार किया पर धर्म छोड़ना नहीं। अत; उन्हें धर्मज्ञान तथा उसके द्वारा वास्तविक उन्नति और उसके साधनों की शास्त्रानुसारिणी शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिये। अन्यथा लाख प्रयत्न करने पर भी इनका धर्न छोड़ना अनिवार्य्य ही रहेगा और ऐसे प्राणियों की स्थिति कहीं भी नहीं हो सकती, चाहे जिस धर्म में वे-जाय। फिर अपने ही सभी अंगों मे भी क्या समानता का व्यवहार हो सकता है? मुख के भी आन्तरिक अंशों के स्पर्श से हस्त-प्रक्षालन करना पड़ता है। क्या यह मुख का अपमान है ? यदि नहीं तो अन्त्यजों का स्पर्श न करना कोई उनका अपमान नहीं है।

कथा-कीर्तन आदि भगवद्भक्ति तो सनातनधर्म का प्राण है। उसमें यथार्थ अनुरक्ति होना तो देश का परम सौभाग्य है। परंतु इन सुधारकों की छद्ममयी भक्ति तो भक्त-शिरोमणि मारुति जैसे भक्तों को धोखा ही देने के लिए है। आपके सामने प्रत्यक्ष दृष्टान्त है। अभी बहुत दिन भी नहीं हुए जो मूर्तियों को पत्थर बताकर खण्डन कर रहे थे

आज वे ही 'मन्दिर-प्रवेश-विल' पास कराकर देवमन्दिरों को भ्रष्ट करने के लिए कट्टर मूर्तिपूजक की तरह सभी को मन्दिर-प्रवेश तथा देवदर्शन की आवश्यकता बतलाते हैं । आप ही कहिये, ये कालनेमि हैं या नहीं ? अभी तक, "अग्नि कहने से मुख नहीं जलता, मिश्री कहने से मुख नहीं मीठा होता, तो राम राम कहने से क्या होगा" इस रीति से परम पवित्र भगवन्नाम में ऐसी उत्कट श्रद्धा कहाँ से आ गई ?

इसी तरह कुछ शूद्रवर्ण के साधु भी काषाय धारण कर भक्त बन कर ब्राह्मणों से पैर पुजवाते हैं, तथा उन्हें उच्छिष्टतक खिलाने में ब्रह्मण्य देव भगवान् से नहीं डरत ।वे गोस्वामीजी की इस उक्ति से भी आगे बढे-चढ़ दिखाई देते हैं —

"जे वर्णाधम तेलि कुम्हारा । श्वपच किरात कोल कलवारा ।।
ते विप्रन सन पाँव पुजावहि । उभय लोक निज हाथ गँवावहिं ।।"

कुछ व्रात्य ब्रह्मबन्धु तथा वैश्यबन्धु अन्धश्रद्धाजड़ीभूत होकर इनका चरणोदक पान ही नहीं, उच्छिष्ट खाकर अपने तथा उनके सान्वय पतन का हेतु होते हैं । आज कलियुग की माया से तीर्थ-तीर्थ, ग्राम-ग्राम, घर-घर में जिस किसी को देखो वही अवतार माना जा रहा है । स्त्रियाँ भी—

"न गंगया तथा भेदो या नारी पतिदेवता ।
उमामहेश्वरः साक्षात् तस्मात्तां पूजयेद्बुधः ।।"

इस शास्त्रसिद्ध पातिव्रत्यजन्य गौरव की उपेक्षा कर गोपी या [illegible] बनने की दुश्चेष्टा कर ही हैं ।

मन्दभाग्य प्रजा आज उच्छिष्ट भोजन में ही अपना कल्याण समझना है ।

प्रश्न–कुछ लोग शास्त्र मानने का दावा रखते हुए, भी कहते है कि "**भगवद्भक्त शूद्र भी पूज्य हैं, अभक्त ब्राह्मण अपूज्य है**", [illegible] साधु वेषभूषित भक्त शूद्र भी पूज्य है ।

उत्तर–भगवान् का भक्त वही होता है, जो भगवान् की आज्ञा मानता है:— 'आज्ञा सम न सुसाहु सेवा' श्रुति स्मृति का उल्लंघन कर जो भगवन्निर्मित सेतु का भेदन करता है, वह कदापि भगवद्भक्त वहीं हो सकता।

''श्रुतिस्मृतिर्ममैवाज्ञे यस्ते उल्लघ्य वर्तते।
आज्ञोच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णव:।।''

अर्थात् भगवान् कहते हैं कि श्रुति तथा स्मृति हमारी आज्ञा है, जो उन्हें उल्लंघत करता है, वह मेरा द्रोही है ।

रैदार प्रभृति भक्तों की सभी चेष्टाएँ स्वधर्मानुकूल ही थीं। उन लोगों ने कभी काषाय धारण नहीं किया और वे ब्राह्मणों के साथ शास्त्रानुसार ही व्यवहार करते थे । वे यदि पैर पुजवाना या उच्छिष्ट खिलाना चाहते तो महापुरुष-पद को प्राप्त न होते । इसी से आज भी वे सत्पुरुषों की दृष्टि में आदरणीय हैं । पूज्यापूज्य के विषय में तो शास्त्र कहते हैं—

''दु:शीलोऽपि द्विज: पूज्य:न तु शूद्रो जितेन्द्रिय:।
क: परित्यज्य गां दुष्टां दुहेच्छीलवतीं खरीम्।।''
''पूजिय विप्र सकल गुण हीना, नहिं न शूद्र गुण ज्ञान प्रवीना ।''

अर्थात् धर्म शास्त्रप्रमाणक है, अत: शास्त्रानुसार ही विधिपुरस्सर पूजा, पूज्य तथा पूजत, दोनों ही के कल्याण की हेतु है । पूर्व पूर्व वर्ण उत्तरोत्तर अपूज्य । फिर जहाँ स्वधर्मस्थ वर्णों में ऐसी व्यवस्था है, वहाँ विकर्मस्थ के लिये तो ''वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ''ठीक ही है।

आज इसी का फल प्रजा के सामने उपस्थित है । **''शूद्राय च नमस्कारो ज्वलन्तकारो पातयेत्** '' शूद्र के लिये नमस्कार अग्निवत् दीप्त त्रैवर्णिक को भी गिरा देता है ।

''अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यपूजाव्यतिक्रमः।
त्रीणि तत्र भविष्यन्ति दुर्भिक्षं मरणं भयम् ।।''

अर्थात् जहाँ अपूज्य की पूजा होती है, और पूज्य की पूजा का व्यतिक्रम होता है, अर्थात् उचित पूजा नहीं होती, वहाँ दुर्भिक्ष, मरण तथा भय होता है ।

यहाँ अपूज्य से निन्द्य तात्पर्य नहीं है, चतुर्वेदवित् ब्राह्मण भी अपने गुरु की अपेक्षा पूज्य ही है । यदि पूज्य अपूज्य को नमस्कार भी करे तो भी दोनों का ही तेज भ्रष्ट होता है । रहा **'श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते'** इसका अर्थ यह नहीं कि नामोच्चारण से उसी जन्म में चाण्डाल सवनर्ह द्विजाति हो जाता है । यहाँ तो 'सद्यः' पद ही आया है । 'सद्यः' शीघ्र को कहते हैं, शीघ्रता अपोक्षाकृत होती है, लक्ष जन्मान्तरों की अपेक्षा, शत जन्मान्तर शीघ्र ही होते हैं । महाभारत में स्वस्वधर्मानुष्ठान से बहुकाल में जाति-परिवर्तन बतलाया है । अतः वहाँ एक या दो जन्म में चाण्डाल वैश्य आदि सवनार्ह त्रैवर्णिक हो जाय तो भी शीघ्रता ही समझना चाहिए । कर्मकृत पतित्य प्रायश्चित्तों से दूर होते हैं, परन्तु जातिकृत नहीं । 'ब्राह्मण योनि' परिवर्तन पश्वादि की तरह असम्भव है । **''नित्यत्वे सति अनेक-समवेतत्वं जातिः''**। एवं लक्षण-जाति नित्य होने से कर्म से उस का नाश नहीं होगा । जहाँ कहीं **''शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मण्यादेव हीयते''** (शूद्रा-सहगामी ब्राह्मण ब्राह्मणत्व से च्युत हो जाता है) इत्यादि स्थलों में ब्राह्मणत्व से ज्युति सुनी जाती है वहाँ भी गुणकृत ब्राह्मण का विशेषणाभाव-प्रयुक्त-गुणविहीन सिंह में गुणकृति सिंहत्व की प्रच्युति होने पर भी सिंह जाति रहती ही है।

आज इन्हीं वाक्यों का समाश्रयण कर कुछ अनभिज्ञ ''रघुपति राघव राजाराम, पतितपावन सीताराम'' ऐसे परम पवित्र नाम चिन्तामणि

का दुरुपयोग कर अछूतोद्धार के नाम पर अछूतपातन तथा देव-मन्दिर को भ्रष्ट करने में उद्यत हो रहे है। एवं कुछ ब्राह्मण आदि भी भगवन्नाम के सहारे सन्ध्या आदि-परित्याग-रूप-पतन-निदान में प्रवृत हो रही है। कोई भी सम्प्रदाय या संध्या चाहे कैसी भी धर्मध्वंसक हो, ये सर्वत्र ही आचार्य बनने का साहस कर बैठते हैं । थोड़े ही लोभ में पड़ कर धर्मनिष्ठा से विचलित होने से इनके लिये कोई भी शर्म की बात नहीं है । कोई भी थोड़ा सा द्रव्य देकर इनसे मिसी धर्म की सिद्धि करवा सकता है । स्वभावसिद्ध, तप, त्याग, विद्या के अभ्यास भी सोपधि करना चाहते हैं । धर्मरक्षा में इन्हें आलस्य आने लगता है । निःस्पृहता को तिलाञ्जलि दे बैठते हैं। यद्यपि पूर्ण-तिरस्कार का अनुभव कर रहे हैं, तथापि प्रतिग्रह, महाग्रह से पृथक् नहीं होना चाहते । धनियों के पीछे-पीछे दीन होकर घूमने में लज्जानहीं आती । निर्भयता, स्वतन्त्रता का त्याग कर धनियों की महानसाध्यक्षा में स्वाद आने लगता है ।

पूर्वोक्त सभी कथन का तात्पर्य किसी भी वर्णों या आश्रमी की निन्दा नहीं है । किन्तु जिस वर्णाश्रम-धर्म मर्यादा की रक्षा के लिये अज, अव्यक्त, धर्म-वत्सल भगवान् भी स्वयं प्रकट होकर मर्यादा पुरुषोत्तम की पदवी से भूषित होते हैं, उसे छिन्न-भिन्न होते देख मानसग्लानि अनिवार्य होती है । इस वास्ते जो कुछ भी कहा गया है, वह दोष छोड़ने के लिये एवं गुणग्रहण के लिये ही है ।

प्रश्न—भगवन्नाम कीर्त्तन आदि से तो स्वाभाविकी धर्म में रुचि होनी चाहिए । फिर कीर्तन-प्रेमियों में भी ऐसी उच्चृङ्खलता क्यों देखी जाती है ?

उत्तर—यह कलियुग-देव की ही माया होगी । मेरी समझ में तो ऐसा आता है कि दुनियाँ में नाम-कीर्त्तन का प्रचार कर दे । कलि अपनी राज्य प्रच्युति से घबड़ाया होगा, उसने सोचा होगा कि 'कीर्त्तनदेव

कृष्णस्य मक्तसङ्गः परं व्रजेत्' (कृष्णकीर्त्तन मात्र से प्रणी मुक्त हो जायेगें) फिर मैं राज्य किन पर करूँगा ? यह सोचकर उपाय ढूँढ़ने पर नामापसाध दृष्टि गोचर हुआ होगा । पद्मपुराण में इस प्रकार वर्णन है :—

"सर्वापराधकृदपि मुच्यते हरिसंश्रयः ।
हरेष्यपराधान् यः कुर्याद् द्विपदपांसनः ।।
नामाश्रयः कदाचित् स्यात् तरत्येव स नामतः ।
नामनो हि सर्वसुहृदोऽपराधात्पतत्यधः ।।'

नारद उवाच—

"के तेऽपरोद विप्रेन्द्र नामनो भगवतःकृताः ।
विनिध्नन्ति नृणां कृत्यं प्राकृतं ह्यानमन्ति च ।।"

सवत्कुमार उवाच—

"सतां निन्दा नाम्नः परममपराधं वितनुते
यतः ख्यातिं यान्तं कथमुसहते तद्विगरहाम् ।
शुभस्य श्रीविष्णोर्य इह गुणनामादि सकलं
धियां भिन्नं पश्येत् स खलु हरिनामाहितकरः ।।
गुरोरवज्ञा श्रुतिशास्त्रनिन्दनं
तथार्थवादो हरिनाम्नि कल्पनम् ।
नामापराधस्य हि पापबुद्धे-
शु विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः ।।
धर्मवतत्यागहुतादिसर्व-
मक्रियासाम्यमपि प्रसादः ।
अश्रद्दधानो विमुपव्खोऽपि श्रृण्वन्-
यश्चोपदेशः शिवनामापराधः ।।

श्रुत्वापि नाममाहात्म्यं यः प्रीतिरहितोऽधमः।
अहं ममादि परमो नाम्नि सोंऽपराधकृत्।।
एवं नारदशंकरेण कृपया मह्यं मुनीना परं
प्रोक्तं नाम सुखावहं भगवतो वर्ज्यं सदा यत्नतः।
ये ज्ञात्वाऽपि न वर्जयन्ति सहसा नाम्नोऽपराधान् दश
क्रुद्धा मातरमप्यभोजनपरा खिद्यन्ति ते बालवत्।।
अपराधविमुक्तो हि नाम्नि जपन्तं सदाचर।
नाम्नैव तव देवर्षे सर्वं सेत्स्यति नान्यतः।।
जाते नामापराधे तु प्रसादे तु कथंचन।
सदा संकीर्तयन्नाम तदेकशरणो भवेत।।''

अतः कलि ही छल से सत्पुरुषों को भी मोहित कर इश पूर्वोक्त कथनामुसार शास्त्रावहेलना, वर्णाश्रमोच्छेद, शास्त्रानुसारी शास्त्रज्ञ- सत्पुरुषों की निन्दा आदि नामापराध में प्रबृत्त कर रहा है, एवं कुछ लोगों से नाना प्रकार का विघ्न करा रहा है। ऐसे अवसर में सत्पुरुष सुधार करने में असमर्थ होकर खिन्न होते हैं। कुपुरुष प्रचार वा अनुमोदन कर प्रह्यष्ट होते है।

''इह सन्तो विषीदन्ति प्रहृष्यन्ति ह्यसाधवः।
अयं तु युगधर्मो हि वर्तते कस्य दूषणम्।।''
''अतस्तु पुण्डरीकाक्षो सहते निकटे स्थितः।''

सुधारकम्मन्य प्रायः ऐसा सोचते हैं कि यदि एक भीमसेनी एकादशी व्रत से, समस्त पाप प्रक्षालित हो जाते हैं, तथा एक भगवन्नाम के उच्चारण मात्र से इतने पाप नष्ट होते हैं जितने कि पापी पुरुष से पाप ही नहीं हो सकते, तब तो किन्हीं भी प्रणियों की पाप से निवृत्ति ही न हो सकेगीं क्योंकि पाप की ओर स्वाभाविकी प्रवृत्तियाँ बड़े-बड़े योगीन्द्र मुनीन्द्रों के लिये भी दुर्निवार्य होती है, और पापों के भयानक फलों

को, तथा विषयों एवं दुष्कृत्यों में अनन्त अनर्थो को जानते हुए विज्ञों को भी कभी- कभी दुर्दमनीय प्रवृत्ति के वश होना पड़ता है । वहाँ जब ऐसा ज्ञान हुआ कि एक नाममात्र से ही समस्त पाप नष्ट हो जायेंगे फिर पाप करने में क्या भयानकता है, तथा पाप हमारा क्या बिगाड़ सकता है ।

भिन्न-भिन्न पापों के अतिकठिन प्रायश्चित्तों के करने में असामर्थ्य एव कठिनता समझ कर भी प्राणी पापों से बचने का अधिक प्रयत्न किया करते हैं । जैसे मदिरा पान का प्रयश्चिन्त धर्मशास्त्रों में अग्निमय मदिरा पान करना ही का है,जिसका फल मरण निश्चित हैं । अत: उस सुरा-पान से बचने का बहुत प्रयत्न होता है । परन्तु जब नामोचरण अत्यन्त सरल प्रयश्चिन्त विद्यमान है, तब तो सभी प्रणियों की पापों में प्रवृत्ति विर्भयतापूर्वक उच्छृङ्खलता से होगी । इसके अतिरिक्त जब प्राणी अनेक श्रौत-स्मार्त क्रिया-कलापों में निरत रहता है, तब तो उसे दुराचारादि के लिये अवकाश ही नहीं मिलता । किन्तु जब प्राणी ऐसा समझ लेगा कि भगवन्नाम में ही अनन्त गुणों के विस्तार करनेतथा अनन्त पापों के नाश करने की शक्ति है फिर तो वर्णाश्रमानुसार अपने श्रौत-स्मार्त धर्म-कर्में की उपेक्षा हो जायेगी ? और स्वधर्म बहिर्मूखख होने से पाशविक कर्में में प्रवृत्ति सुतशं अनिवार्य हो जायेगी । नामादि सरल प्रायश्चितों के बल पर विर्भय होने से नरक आदि के भय से प्रवृत्ति का दमन असम्भव है । ऐसा समझ कर उन लोगों ने नाम माहात्म्य का ही निराकरण करना आरम्भ किया है ।

परन्तु क्या यह बात शास्त्रों तथा भगवान् व्यास प्रभृति महर्षियों को नहीं सूझी? क्यों नहीं अवश्य सूझी और उन्होंने इसकी चिकित्सा भी की है । इसीलिए तो यह नियम बनाया है कि नामापराध फल होते है, जो माहात्म्य-वचनों में कहे गये हैं।

मुख्य नापराधो का वर्णन इस प्रकार है—

''सन्निन्दाऽसति नामवैभकथा श्रीशेशयोर्भेदधी:।
अश्रद्धा श्रुतिशास्त्रदेशिकगिरां नाम्न्यर्थवादभ्रम:।।
नामास्तीति निषिद्ध वृत्ति विहित त्यागो हि धर्मान्तरै:।
साम्यं नाम जपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश।।''

अर्थात् सत्पुरुषो की निन्दा, असत्पुरुषों से नाम का माहात्म्य-कथन, शिव और विष्णु मे भेद-बुद्धि, श्रुति-शास्त्र तथा आचार्य के वाक्यों में अविश्वास, नाममाहात्म्य को अर्थवाद मानना, नाम के सहारे शास्त्रोक्त कर्म-धर्मों का त्याग तथा शास्त्र निषिद्ध पाप कर्मो का आचरण, और नाम जप की धर्मान्तरों के साथ तुलना यानी बराबरी मानना, ये दश नामापरा है।

कुछ स्थलों में 'वर्णाश्रम परित्यागो गुरुत्यागस्तत: परम्'' इत्यादि रीति से भी कुछ भेद कहे हैं, परन्तु मूलत: शास्त्रविहित कर्त्तव्यों की अवहेलना तथा निषिद्ध कृत्यों का अनुष्ठान यही मुख्य रूप से नामापराध है।

''य: शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारत:''
''ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि''

जो पुरुष नामापराध से बचने का प्रयत्न नहीं करते उनके लिये कुछ फल नहीं होता, वे तो केवल नरक के ही भागी होते हैं। वस, इस प्रकार संभावित समस्त अनर्थों को उन्होने नामापराध के ही बीच में ले लिया है, जैसे नाम के सहारे या अन्य किसी हेतु से विहित-श्रोंतस्मार्त कर्मों का त्याग, निषिद्ध कर्मों का अनुष्ठान, शास्त्रो तथा शिष्ट की आज्ञा का उल्लंघन इत्यादि। इनसे बचकर नामोच्चारण करने वाले को ही नाम माहात्म्य में कथित फल होने हैं। नाम के बल पर मर्यादात्याग

तथा पापाचरण करने वालों को तो घोर नरक होता है, क्योंकि वे तो भगवान्नाम के ही अपराधी हैं। भला उस अपराध का छुटकारा अब किस से होगा?

ऐसी परिस्थिति में चाहे कितना भी नाम का महात्म्य वर्णन किया जाय किन्तु निषिद्ध-परिवर्जन तथा शास्त्र-विहित धर्मों का अनुष्ठान अनिवार्य ही रहेगा, उसका बाध किसी प्रकार नहीं हो सकता । अब रहा यह प्रश्न कि फिर पहले से ही इस प्रकार के माहात्म्य क्यों वर्णन किये गये कि जिससे प्राणियों की निर्भयता पूर्वक पापों में प्रवृत तथा स्वधर्मत्याग की प्रसक्ति हो? तो इसका उत्तर यही है कि माहात्म्यवर्णन का आशय बहुत गम्भीर है, जिसके समझने के लिये आचार्यों की कथन-शैली का ज्ञान परमावश्यक है। यह समस्त शास्त्रों का सिद्धान्त है कि समस्त अनर्थ की निवृत्ति तथा पूर्ण परमानन्द की प्राप्ति एक मात्र परमात्म-सम्मिलन के बिना नहीं हो सकती। इस परमात्म-सम्मिलन का मूल कारण सम्मिलन विषयिणी उत्कट उत्कण्ठा ही है, परन्तु यह उत्कण्ठा भी सम्मिलन की सम्भावना होने पर ही हो सकती है । संभावना भी योग्यतानुसार होती है, एक आजन्म दुराचारी को भगवत्संमिलन की संभावना कैसे हो? साथ ही यह भी निश्चित है कि जगत् में प्राय: जीवमात्र से ही दुराचार तथा सदाचार होते हैं । ऐसी स्थिति में यदि में एक दुराचारी की किसी तरह परमात्मा की ओर प्रवृत्ति हुई भी तो उसकी साधन की ओर तीव्र गति यह सोच कर नहीं होती कि **''मैं तो आजन्म अत्यन्त पाप कैसे नष्ठ होगें, मै परमात्मा की प्राप्ति के योग्य कैसे हो सकता हूँ? अब यह मेरे सब प्रयत्न व्यर्थ हैं, मेरे भाग्य में परमात्मा-प्राप्ति नहीं है।''**

जब सम्मिलन सम्भावना नहीं तो उत्कट उत्कण्ठा कैसी और उत्कण्ठा के बिना साधनों के अनुष्ठान में तीव्र गति कैसी? इस तरह

वह प्राणी परम पुरुषार्थ से वञ्चित ही रहेगा । ऐसी परिस्थिति में शास्त्र तथा महर्षियों के उक्त माहात्म्य-वचन सार्थक होते हैं। वे कहते हैं कि "अरे तुमने कितने पाप किये हैं, एक भगवान् के नाम में जितने पापों के नाश करने की शक्ति है, मङ्गलमय नाम का उच्चारण कर और विश्वास मान कि तेरे सभी पाप नष्ट हो गये और तू परम निर्मल हो गया । प्रभु-प्राप्ति की योग्यता तेरे में स्वाभाविक हैं, क्योंकि तू प्रभु का ही अंश है, तू प्रभू का है और प्रभु तेरे हैं। प्रभु सम्मिलन तेरे लिए अति सम्भव है । प्रभु तो तेरे परम अन्तरङ्ग और परम सुहृद् है । तू उनकी ओर देख, वे तेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।"

इस प्रकार के वाक्यों से पापी को बड़ा आश्वासन मिल जाता है, उसमे प्रभु-सम्मिलन की संभावना एवं उत्कण्ठा उत्पन्न हो जाती है, और तीव्र गति से प्रभु की ओर प्रवृत्ति होने लगती है । इस प्रकार इन माहात्म्य वाक्यों से प्रणियों का परम कल्याण हो जाता है । पसन्तु हाँ इन्हीं वाक्यों का दुरुपयोग करने पर दुराचायियों के दुराचार की वृद्धि तो उच्छृङ्खलता भी हो सकती है । शास्त्र तथा व्यास महर्षियों ने भी समझा कि कहीं वे मेरे इन नाम-माहात्म्यपरक वाक्यों का दुरुपयोग न कर बैठें, इसीलिये नामबपराध-राहित्य का नियम रख कर कहा कि इव नामापराधों से तो फिर उद्धार ही असम्भव हो जाता है । अत: इनसे अवश्य बचना; तभी नाम के फल हो सकते हैं ।

जहाँ कहीं भी यह कहा है कि नाम से भिन्न कोई साधन ही कल्याण का नहीं हो सकता, नामपरायण प्राणी के लिए वेद, स्वाध्याय, यज्ञ, तप, दान कुछ भी आवश्यक नहीं है क्योंकि नाम में सभी अन्र्तगत हो ज़ाता है, वहाँ भी तात्पर्य वेदादि की उपेक्षा में नहीं है, प्रत्युत नाम के महत्त्व में ही है । क्योंकि नाम-सङ्कीर्त्तनादि, नामापराध रहित होने से ही फलवान् होते हैं । वेद, स्वध्याय, यज्ञ, तप, दानादि सब भगवदाज्ञा

रूप शास्त्र से ही विहित हैं, उनका त्याग नामापराध हैं, जिनसे बचना परमावश्यक है।

गीता में कहे हुए **'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया, शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसी मां यथा'** इत्यादि वाक्यों से मालूम होता है कि भगवद्दर्शन में वेद, यज्ञ, दान, तप आदिकों का उपयोग नहीं है, केवल भक्ति की ही आवश्यकता है। परन्तु यह बात केवल भक्ति की प्रशंसा के लिए कही गई है । अर्थात् जैसे आलोक बिना चक्षु से रूप नहीं है कि रूप-दर्शन के लिए चक्षु से दिखाई देता है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि रूप-दर्शन के लिये चक्षु की आवश्यकता ही नहीं है । वैसे ही भक्ति के बिना वेदादि व्यर्थ हैं, परन्तु भक्ति के होने पर तो सभी सार्थक हैं, जैसे आलोक के होने पर चक्षु सार्थक है।

अतः आगे भक्ति-निष्ठा में कर्म की कर्तव्यता दिखलाई है— "**मत्कर्मकृत मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः**' अर्थात् मेरे लिये कर्मों को करे । कर्म कैसे करे इस पर 'ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं' कहा है, अर्थात् शास्त्र-विधान से उक्त कर्म को जान कर करे, क्योंकि 'कर्म ब्रह्मसमुद्भवम्' के अनुसार कर्म ब्रह्म यानि वेद से ही समुद्भूत हैं।

भगवन्नाम के साथ साथ समस्त साधनों की भी आवश्यकता है हाँ ! भगवन्नाम बिना साधन अकिञ्चित्कर हैं, किन्तु वे ही साधन भगवान्नाम से दशगुणित होकर फलीभूत होते हैं, जैसे कि किसी महानुभाव ने कहा है—

"राम नाम इक अङ्क है, सब साधन हैं सुन्न।
अङ्क गये सब शून्य है, अङ्क रहे दश गुन्न।।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि शून्य व्यर्थ नहीं है, क्योंकि अङ्क रहने पर भी शून्य बिना संख्या की वृद्धि नहीं हो सकती, वैसे ही साधन बिना नाम से वह उन्नति नहीं होगी, जो साधनों के साहित्य

में होगी । यदि एक अङ्क ही अपेक्षित है, एक लक्ष तथा कोटि की अपेक्षा न हो, तब शून्य भले ही उपेक्ष्य हों । अतः साधनों की उपेक्षा भूल है ।

आज कल किसी भी व्यक्ति को भगवान् का अवतार मान कर उसके नाम का सङ्कीर्त्तन किया जाता है, यह भी बड़ी भारी भूल है । कभी अवतार मान कर यदि उनके नाम का कीर्तन किया जायगा, तो कुछ दिन में, राम, कृष्णादि अवतारों में भी लोगों की यही भवना हो जायगी कि वे भी ऐसे ही व्यक्ति थे—बहुत बड़े प्रभावशाली थे—लोगों ने उन्हें ईश्वर मान कर उनके नाम का कीर्तन करना आरम्भ कर दिया होगा। अतः अवतार मानने या नाम-कीर्तन में आस्तिक-सम्मत शास्त्रों का ही आश्रयण आवश्यक है ।

यद्यपि यह बात अत्यन्त निर्विवाद है कि भगवन्नाम का किसी प्रकार से समाश्रयण या प्रचार परम मङ्गलमय ही—

'भाव कुभाव अनख आलसहू, नाम जपत मङ्गल दश दिशिहू'

तथापि विचारणीय विषय यह है कि ऐसे परम मङ्गलमय तत्त्व का दुरुपयोग आज कल किस प्रकार किया जाता है । अभिज्ञों से यह बात तिरोहित नहीं है कि इस समय कितनी संस्थाये नियत की जाती हैं, एवं कितने उत्सव इस प्रकार के किये जाते है, जिनका उद्देश्य श्री भगवन्नाम का प्रचार आदि होता है । इन संस्थाओं तथा उत्सवों में प्रायः शूद्र-समाज तथा सधवा या विधवा नारी वर्ग स्वधर्मोचित कर्त्तव्यों की उपेक्षा करके सम्मिलित होते हैं । अर्थात् कितने ही शूद्रादि वर्ण, जिनके जीवन-यात्रा निर्वाह करते हुए ही श्री भगवन्नाम का समाश्रयण करें; तथा बहुत सी स्त्रियाँ, जिनका कर्त्तव्य है कि अपने पति-पुत्र-भ्राता आदिकों के आश्रित रहकर उचित परिश्रमों से जीवनयात्रा निर्वाह करती हुई अपने घरों ही में श्री हरिका समाश्रयण करें, पर वे स्वधर्मोचित

कार्यों में उपेक्षा कर इन संस्थाओं तथा उत्सवों में सम्मिलित होकर अकर्मण्य होते हैं। उन लोगों ने अन्य अन्य व्यवसायों की तरह श्री भगवन्नाम को भी व्यवसाय समझ रक्खा है। चार चार पैसे या भोजनमात्र पर नाम-कीर्तन में सम्मिलित होकर अपने अपने स्वाभाविक कृत्यों की उपेक्षा करते हैं ।

ऐसी परिस्थिति को देख कर बुद्धिमान् सहज में ही समझ सकते हैं कि इस तरह भगवान्नाम का स्थायी प्रचार नहीं हो सकता । यह तो नाम चिन्तामणि का अत्यन्त दुरुपयोग है । जब इन संस्थाओं तथा उत्सवों में पैसे या भोजन मिलना बन्द हो जायगा तभी यह भक्ति भी समाप्त हो जावेगी । उत्तम प्रकार तो भगवन्नाम या भगवद्भक्ति का यही हो सकता है कि इन उत्सवों तथा संस्थाओं में भगवान् तथा उनके स्वरूप, नाम एवं माहात्म्य के प्रख्यापक शास्त्रों का प्रचार किया जाय, जिससे कि प्राणियों को भगवान् तथा उनके नाम एवं माहात्म्य का ज्ञान प्राप्त हो और श्रद्धा-सहित स्वधर्म में परिनिष्ठित होकर समस्त प्रणी श्री भगवान्नाम का समाश्रयण करें । यदि उन्हीं संस्थाओं तथा उत्सवों में शास्त्र ताथ धर्मों की भी आवश्यकता बतलानें और प्रचार करने का प्रयत्न किया जाय, भक्तों को भी शास्त्र और धर्म पक्षपाती बनाया जाय, तब तो सब विरोध ही शान्त हो जाय । परन्तु वहाँ तो इसके विपरीत धर्म तथा शास्त्रों की अनावश्यकता बतलाई जाती है। वहाँ के भक्त समझते हैं कि हमें शास्त्र या शास्त्रोक्त धर्मों से क्या सम्बन्ध है, हमारे लिये तो नाम ही पर्याप्त है ।

यही समझ कर समाज तथा देश पर अनेक प्रकार के आये हुए अधार्मिक उल्वणभावों के प्रतिकार में वे प्रयत्नशील नहीं होते । वे जिन भगवान् के मङ्गलमय नाम का जप या कीर्तन करते हैं, वे भगवान् ही शास्त्र और तदुक्त धर्म के पक्षपाती है, फिर भक्त उनकी

उपेक्षा करे, और उन पर आयी हुई आपत्तियो का प्रतीकार अपना अकर्त्तव्य समझे भला यह कहाँ तक उचित है? इसके अतिरिक्त कीर्त्तन को इतना संकुचित मानना भी ठीक नही है । समस्त शास्त्र ही भगवान् के स्वरूप तथा गुण-कर्म-नाम का कीर्त्तन करते हैं—**''वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते'' ''गायन्ति यं समगाः'' ''संकीर्त्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नां''**। वेदपाठ इतिहास पुराण सहस्त्रनामादि का पाठ यह सभी परम उत्तम भगवत् कीर्त्तन ही है। **'सततं कीर्त्तयन्तो मां'** यहाँ पर भी भगवान् के स्वरूप का साक्षात्कार होता है। हाँ, भगवन्नाम कीर्त्तन के अधिकारी सभी हैं, पर वेदवेदान्त आदि द्वारा भगवान् के स्वरूपादि कीर्त्तन के अधिकारी त्रैवर्णिक ही हैं।

कहा जा सकता है कि अच्छा किञ्चत् प्रलोभनों से भी लोगों की प्रवृत्ति इधर हो, तो भी ठीक ही है। परन्तु गम्भीरतापूर्वक विचारने से बात बिपरीत ही ठहरती है। भाव यह है कि शास्त्रों तथा पितृपितामह परम्परा से जिन्हें धर्म का महत्त्व ज्ञात नहीं है, वे प्रलोभनों द्वारा कितने दिन धर्मिक रह सकते हैं । जिस धर्म के लिये कितने लोगों ने हँसते-हँसते प्राण न्योछावर कर दिये, कितने के लिये बड़ी तत्परता (शौक) से तैयार हो रहे हैं, पर उसके समाप्त होने पर वे फिर उसे छोड़ने को सन्नद्ध हो जाते हैं।

यदि कहा जाय कि किसी संध्या के ही समय थोड़ा सा अवकाश मिलता है, तब वह उस समय संध्या करे या श्रीहरि का नाम-संकीर्त्तन इसका उत्तर यही है कि उसे तो संध्या ही करनी चाहिए । कहा जा सकता है कि भगवन्नाम बहुत श्रेष्ठ है फिर वही सांसारिक कार्यो एवं संध्या-वंदनादि इन दोनों में कौन श्रेष्ठ हैं। यदि संध्या-वन्दना श्रेष्ठ है, तो फिर पहले सांसारिक कार्यों की उपेक्षा करके कीर्तन उचित है, किम्बा शास्त्रीय संध्या-वन्दनादि को ही त्याग कर कीर्त्तन?

आखिर थोडा ही समय क्यों मिला? इसी वास्ते न कि अनेक सांसारिक कार्यो मे व्यग्र थे, ठीक है, यदि नाम-कीर्तन के वास्ते नगण्य सांसारिक कार्य नहीं त्यागे जा सकते, तो परम पूज्य क्यों छोड़ा जाय? हाँ, यदि लौकिक सभी कर्म की उपेक्षा करके भगवत्परायण हो जाय, तब तो अत्यन्त तन्मयता में महाविरक्त के लिये संध्यादि छूट जाना विशेष दोष नहीं कहा जा सकता है।

प्रश्न हो सकंता है कि बहुत से ग्रामिण ब्राह्मणादि जो कि संन्धा वन्दनादि सीखने में असमर्थ है, किम्बा जिन्हें समय ही नहीं है, उनके लिये तो केवल कीर्तन ही कल्याण का हेतु है। यह बात ठीक है, परन्तु यह देखा जाता है कि लोगों को जब कीर्त्तन की सुन्दरता (सौष्ठव) के लिये तबला (मृदङ्ग) करताल आदि वाद्यविशेष एवं नृत्य-गीत आदि सीखने के लिये समय एवं सामर्थ्य है, तब यह कहा जा सकता है कि संध्या ही सीखने के लिये समय या सामर्थ्य नहीं है। हाँ, जो अंधबधिर आदि होने के कारण सर्वथा असमर्थ ही हैं, उनके लिये तो कोई भी क्या कह सकता है, क्योंकि विधियां समर्थ कि लिये ही होती हैं।

कुछ लोग कीर्त्तन में नृत्य भी करने लगते हैं। श्री भगवान् के गुण-नाम आदि के श्रवण या कीर्त्तन में प्रेमोद्रेक से नृत्य आदि भी दूषण नहीं है, परन्तु सभी समाज में लोगों को रिझाने के लिए या अपनी प्रेम-प्रख्याति के लिए ऐसा करना अत्यन्त हानिकर है। ''**वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति-क्वचिच्च विलज्ज उद्गायति उन्मादवन्नृत्यति लोक बाह्यः**'' इत्यादि स्थलों में यही कहा गया है कि भगवान् के प्रेम की वाक् इन्द्रिय गद्गद हो जाती है, चित्त द्रवीभूत हो जाता है, और वह पुनः पुनः भगवान् के प्रेम में रोता है, विलज्ज होकर वह उच्च स्वर से गान करने लगता है, एवं प्रेमोन्माद में नृत्य करने लगता है। यह सभी दम्भ से भी हो सकते हैं। अतः कहते हैं 'लोकबाह्यः' अर्थात् लोक से बाह्य होकर, यानी देह तथा दैहिक प्रपञ्च

को भूल कर ही, ऐसा उचित है। वैसे तो धर्मशास्त्र में पुरुष का नृत्य करना या पुरुष का नृत्य देखना यह सब निषिद्ध है, परन्तु जो लोक, बाह्य, देह तथा प्रपञ्च को भूल गया है, ऐसे उत्कृष्ट कोटि के महानुभाव के लिए भावावेश में नृत्यादि भूषण ही है। परन्तु ऐसी दशा बड़े सौभाग्यशाली को ही प्राप्त होती है, और जिसे वह दशा प्राप्त होती है वे कहीं एकान्त अरण्य में ही ऐसा करते हैं । ये भाव किसी के अधीन नहीं होते कि जिससे किसी ख़ास समय पर खास सभा में ही सूचना-पूर्वक नृत्य किया जाय ।

प्रश्न–तो फिर इस समय सत्पुरुषों को भगवदपराध हटा कर शुद्ध वैध भगवत्कीर्त्तन आदि भक्ति के प्रचार में प्रयत्न करना उचित है या नहीं? विफलता देखकर तो प्रयत्न करना अनुचित ही प्रतीक होता है।

उत्तर–यह ठीक है कि आजकल की प्रथा शास्त्रीय शृङ्खला को तोड़ उच्छृङ्खल हो मायामय सांसारिक सौख्य की चमक-दमक के प्रलोभन में मोहित हुई कण्टकाकीर्ण गर्त में साग्रह गिरना चाहती है। महर्षियों का निश्चय है कि सभी प्राणी, चाहे कैसे भी दीन हीनदशा में क्यों न हों, पर दुःख से उद्विग्न एवं सुख से प्रहृष्ट हो उद्वेजक दुःख निवृत्ति तथा परमाभिलषित सौख्यावाप्ति के लिये प्रयत्न उचित ही समझते हैं, क्योंकि दुःख निवृत्ति सौख्यावाप्ति के उचित साधन का ही अनुष्ठान करने से उनकी संपत्ति हो सकती है ।

परन्तु क्या उचित साध्यसाधन की अवगति सभी को सम्भावित हो सकती है? यदि गम्भीर भाव से विचार किया जाय तब तो ज्ञात होता है कि जब सामान्य प्राणियों को दुःख और सुख का स्वरूप ही ज्ञात नहीं है, तब उसके साधन की अवगति कहाँ तक सम्भावित हो सकती है। देखते हैं कि विष या पित्त-दोषवश प्राणी कटुनिम्ब को मधुर समझता है, तथा मधुरातिमधुर मिश्री आदि को कटु समझता है।

फिर जब सुख-दुःख स्वरूप का ही ज्ञान नहीं तो फिर साधन में भ्रम होना सहज ही है। ज्वराक्रान्त रोगी को आतप या दधि आदि कुपथ्य ही, जिनको वैद्य निषेध करना चाहते हैं, मोहवश सुखके साधन प्रतीत होते है और सुख के हेतु कटु औषधादि दुःखप्रद और उपेक्ष्य प्रतीत होते है।

यद्यपि स्थूल दृष्टि से अनुकूल वेदनीय सुख और प्रतिकूल वेदनीय दुःख यही सुख-दुःख का स्वरूप है, परन्तु यदि आपाततः अनुकूल होते हुए भी परिणाम में प्रतिकूल हुआ तो यह अनुकूल नहीं कहा जा सकता, कारण कि विषसंपृक्त मधुभक्षण तत्क्षण परमानुकूल होने पर भी परिमाण में प्रतिकूल होने से बुद्धिमानों के लिए ग्राह्य नहीं होता। इसीलिये तत्क्षण अमृत के समान, परिणाम में विष के समान सुख को सुख नहीं मानते। किन्तु प्रथम विष के समान भी परिमाण में हितकर अमृत के समान ही सुख को ही बुद्धिमान सुख कहते है। परन्तु परिणाम का ज्ञान अदीर्घदर्शियों को होना वैसे ही कठिन है जैसे अबोध शिशु को कटु औषधादि का परिणाम-ज्ञान कठिन है। सर्वार्थाव-भासनक्षम भी प्राणी की प्रज्ञा, राजस, तामस विकाराभिभूत होने के कारण, बहुत परिमित ही अर्थो के प्रकाशन करने में सक्षम होती है। इसीलिये लौकिक सुख और तत्साधनोंके स्वरूप का भी यथावत् ज्ञान-सम्पादन करने के लिये विशिष्ट पुरुषों से निर्दिष्ट प्रकार तथा नियमों का अनुसरण करना पड़ता है। जैसे अबोध शिशु की बुद्धि को शिष्यबुद्धि विधेय ही होना उचित है, तद्वत् एवं वैयक्तिक या सामुहिक अनर्थ-निवृत्ति तथा अभ्युदयप्राप्ति के लिये उत्सुक पुरुष को साध्य-स्वरूप साधन-स्वरूप तथा प्रतिबन्ध स्वरूप को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि वाले महानुभावों से परामर्श करना अत्यावश्यक होता है।

बहुत से बुद्धिमानों द्वारा निश्चित पद्धति का ही अवलम्बन कर कर्तव्याकर्तव्य विवेकपूर्वक ही प्रवृत्ति साधीयसी कहलाती है। स्वाभाविकी

पाशविकी प्रवृत्ति अनेकानर्थ का कारण होती है। जैसे कोई पशु हरित तृण के लोभ में मोहित होकर अपनी खतरनाक स्थिति को न देखता हुआ कण्टकाकीर्ण भयंकर गर्त से गिर जाता है, ठीक वैसे ही शृङ्खला तोड़कर स्वाभाविक प्रवृत्ति का आदर करने वाले को भयंकर पतन का फल भोगना ही पड़ता है । देहेन्द्रिय मनोबुद्ध्यादिकों की स्वाभाविकी चेष्टायें वैयक्तिक तथा सामूहिक भयङ्कर पात के हेतु हैं । कारण स्वभाव से रोगी को कुपथ्य में, शिशु को चमकीली मनोहर सुकोमल कायवती नागिन में, और दुर्बल को मनोहर वित्तकलत्र में, प्रलोभन हो सकता है । पर ये सभी व्यष्टि-समष्टि सर्वप्रकार की व्यवस्था को तोड़कर सर्वस्वनाश का ही हेतु हैं ।

बस, इसी पतन से बचाने के लिये अभिज्ञों ने कुछ शृंखलाओं की आवश्यकताएँ समझी थीं, जिनका कि आज संसार अत्यन्त अनुपयोग ही नहीं प्रत्युत अपनी अवनति का मूल मानने लग गया है । जैसे संचालकपारतन्त्र्य बिना यन्त्र, प्रग्रह (घोड़ों के लगाम) बिना रथ, कर्णधार बिना नाव आदि के सांगोपांग नष्ट होने में कुछ भी सन्देह नहीं, तद्वत् इन्द्रियादि अश्वों के मनरूप प्रग्रह (लगाम) पकड़ने वाले विवेक सम्पन्न बुद्धिरूप सारथी बिना प्राणियों का सर्वस्व नाश सुनिश्चित है ! विवेवती बुद्धि से देहादि चेष्टा का नियमन अत्यावश्यक होता है। जब कि सुगम साध्य-साधन के ज्ञान में भी भूलकर साम्प्रतिक नेतृमण्डल अपना और अपने अनुयायिवर्ग का पर्य्याप्त अनर्थ सम्पादन के अनन्तर अपनी भूल स्वयं स्वीकार करता हैं, तब कर्त्तव्याकर्तव्य का यथावत् विवेक स्वभावसुलभ भ्रमप्रमादविप्रलिप्सा करणापाटवादि दोषदूषित बुद्धि द्वारा होना अत्यन्त असम्भव है, क्योंकि देशकालपुरुष भेद से कर्तव्याकर्त्तव्य का अनन्त भेद होने के कारण भिन्न परिस्थिति के अनुसार उनका ज्ञान अल्पज्ञ के लिये दुःशक्य ही है।

इसी वास्ते लोक में भी पाशविकी प्रवृत्ति के निरोध के लिये राजकीय शासन-'पद्धति (कानून) की आवश्यकाता होनी है। ऐहिक आमुष्मिक सर्वविध्य अनर्थ-निवृत्ति तथा अभ्युदय-प्राप्ति के लिये अपेक्षित उचित साधन, एवं तदुपयुक्त देहेन्द्रिय मन बुद्धि आदि चेष्टाओं का नियमन या अनुमोदन करने वाले शास्त्र, अनादि सिद्ध सर्वेश्वर के नियम्य अनादि सिद्ध अनन्त जीवों की अनादिभूत शासन पद्धति है। वे जीवों के सर्वविध सुविधा के लिए तथा पतन से बचाने के लिए हैं, जिन्हें आज की प्रजा अपनी उन्नति का प्रतिबन्ध न समझ कर नष्ट-भ्रष्ट कर भयानक गर्त में गिरना चाहती है। शास्त्रोक्त धर्मनाश के लिए प्रयत्न करती हुई प्रजा को अपना आसन्न नाश दिखाई नहीं देता, परन्तु धर्म भगवत्स्वरूप होने के कारण अनाद्यनन्त हैं और वे अपने उद्धरण में किसी व्यक्ति या समुदाय की अपेक्षा नहीं करते, तथापि प्रजा को अपने उद्धार के लिये अवसर प्रदानार्थ समय-समय पर अभिभूत होने से प्रतीत होते हैं। धर्मनाश के लिय प्रयत्न अपने ही नाश के लिये प्रयत्न है। धम-अभ्युत्थानार्थ प्रयत्न अपने ही अभ्युत्थान का प्रयत्न है,—'**धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।**'

आजकल धर्म-उन्नति के लिए प्रयत्न करना निरर्थक ही प्रतीत होता है, क्योंकि इस अधर्म के उल्वण-वातावरण में जो भी कोई धर्म-प्रचार के लिये उठता है, वही विफलता के कारण खिन्न होकर उल्टा स्वयं ही पतानोन्मुख का प्रचार कर लोग मुदित होते हैं। '**इह सन्तो विषीदन्ति ह्यसाधवत्तः**। यह बात ठीक है, तथापि कृष्णपक्ष में अन्धकार का अधिक मात्रा में साम्राज्य होने पर भी लोग क्या अन्धेरे में ही बैठे रहते हैं और यथाशक्ति प्रकाश का प्रयत्न नहीं करते ? यदि लोग अपने

थोड़ी सी भी धर्म की सहामभूति रखनेवालों पर सम्राट् के साथ थोड़ी सी भी धर्म की सहायता परणिाममें अपने लिये परम हितकारिणी होती है। संसार में धार्मिक तथा नैतिक भावों का अत्यन्त ह्रास देख कर कुछ मनस्वी महानुभावों ने अभ्युत्थित होकर बहुत सी उलझनों को सुलझा कर उल्वण वातावरण से प्राणावशोष धर्म की सहायता की है। परन्तु कालकर्म के प्रभाव से कुछ तो आस्था बिगड़ती जा रही है। समर्थ धर्माचार्य्य महात्मा विद्वद्वृन्द प्रसुप्त हो रहे हैं। ऐसी दशा में असमर्थ लोग खिन्न होने के सिवा कर ही क्या सकते हैं ?

यद्यपि धर्म प्रतिष्ठापक भगवान् की कृपा विना परिस्थिति सँभल नहीं सकती, तथापि हमे आर्त होकर प्रभु की पुकार तो करनी ही चाहिये ; एवं भगवदाश्रित होकर भगवदादिष्ट उपायों का अनुष्ठान भी करना ही चाहिये, तभी तो भगवान् सहायता करेंगे। आज स्थिति ऐसी विवलक्षण हो गई कि धार्मिको की बात भी कोई सुनने को तैयार नहीं है, जनसाधारण सहित सभी धनीमानी लोग धर्मविरोधी समाज के ही पक्ष-पाती हो रहे हैं, धर्माचार्य्यों तथा विद्वानों पर से विश्वास उठ सा चला है, निःस्पृह विद्वानों पर भी यहीं सन्देह होने लगता है कि ये भी किसी स्वार्थ साधन के लिये ही कोई माया रच रहे होंगे। यह जो कुछ हालत है, वह भी सद्विद्वानों की उपेक्षा का ही परिणाम है।

एक दिन वह था जब कि सारा संसार धार्मिकों के ही स्वाधीन था और वे यही समझते थे कि ये भिन्न समाज हमारे सिद्धन्तानुयायियों को स्वसिद्धान्त से विचलित कदापि नहीं कर सकते, हमारा धर्म पतिष्ठित एवं बद्धमूल है, उसकी अवनति असम्भव है। परन्तु देखते-देखते जब उसके विरुद्ध कुछ लोग समाज बनकर उठे उनके संघटन का केवल श्रीगणेश हुआ तब क्या किसी को यह सम्भावना थीं कि ये इतनी जल्द अभ्युत्थित होकर सनातनधर्म को इस तरह कुचल सकेंगे? पर कलिकाल

के वैभव से वह दिन प्रत्यक्ष हो गया कि आज सनातन धर्म नहीं के समान हो गया। आक्रमण करने वाले ही समाज में फैल गये, स्थिति यहाँ तक बिगड़ी कि सनातन ही असनातन का रूप धारण करके बैठ गया। आस्तिक प्रजा अवैदिकों की बात नहीं सुनती थीं, इसलिए अवैदिकों ने भी वैदिकों का रूप धारण किया, वेदसमाश्रयण कर वेद की ओट से अवैदिक धर्म की महत्ता बढ़ाई।

इतने पर भी पुराण-इतिहास धर्मशास्त्रादि द्वारा वेदार्थ निर्णय कर आस्तिक प्रजा धर्म-स्वरूप समझती थी, परन्तु इतनेमें ही कलिकाल की सहायता से बुद्धि प्राप्त कर मायाबियों ने इतिहास-पुराण को भी अपनाया और उनके आधार पर भी व्यामोह फैलाकर स्वाभिमत सिद्धान्त का प्रचार प्रारम्भ किया। दैववश वर्णाश्रम में पधानतया प्रसिद्ध लोगों की भी मति परिवर्तित हुई। मायावियों ने छद्म से धर्माचार्य तथा भक्तप्रवर उपदेशकोंका रूप धारण किया, वेद, स्मृति, इतिहासपुराणानुसार व्यवस्था दे देकर संसार को मोहित कर लिया, अभिज्ञों को भी चकित कर दिया और प्राचीनप्रथा के श्रद्धालुओं को भ्रम में छोड़ दिया। ऐसी दशा में विशुद्ध सनातन धर्म का तथा परिष्कृत साम्प्रतिक मायावियों से प्रचारित सनातनधर्म का विवेचन अशक्य सा हो गया है। ऐसी स्थिति में विशुद्ध सनातनधर्म के अनुयायियों को प्रचारकार्य में कठिनता अवश्य है, तथापि 'प्राप्ते वसन्तसमये काकः काकः, पिकः पिकः' के अनुसार भगवत्कृपासमाश्रित महानुभावों को तनमन से धर्मोद्धारार्थ प्रयत्न करने पर भेद सुस्पष्ट हो जायेगा, क्योंकि भगवत्प्रतिष्ठापित धर्म का नाश कभी नहीं हो सकता।

घोर से घोर कलिकाल में उनके बीज का अस्तित्व रहेगा। आज भी कितने दिव्य, प्रभावशाली, तपस्वी, धर्मनिष्ठ, विरक्त, विद्वान् ब्राह्मण विद्यमान हैं। कितने ही क्षत्रिय स्वधर्मनिष्ठ प्राणपण से धर्मरक्षा में सतत तत्पर हैं, कितने ही धर्मप्राण वैश्यकुलभूषण धर्म, तदुपोद्बलक वेदाङ्ग की रक्षा में स्तुत्य प्रयत्न करते हुए स्वधर्म निष्ठा का परिचय देकर

अपने उज्ज्वल कुल का गौरव बढ़ा रहे हैं। द्विजाति शुश्रूषारूप धर्मानुष्ठान कर अपनी कुल-परम्परा प्राप्त प्राचीन पद्धति का परिपालन कर रहे हैं बहुत से अन्त्यज भी अपनी धर्मनिष्ठा का स्तुत्य परिचय दे रहे हैं।

अत: सभी वैदिक सम्प्रदाय, आचार्य एवं विद्वन्मण्डल को चाहिये कि सभी वर्णियों तथा आश्रमियों के साथ **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** के अनुसार निष्काम भाव से परमेश्वराराधनरूप स्वधर्मनिष्ठा के लिए बड़े जोर-शोर से प्रयत्न करें। सभी सत्पुरुषों को चाहिए कि 'स्वार्थेषु को मत्सर:' इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार कोई नि:स्पृह विद्वान् अपना हित सोच-समझ कर भगवदाज्ञानुसार स्वधर्मानुष्ठान-पूर्वक भगवत्कीर्तनादिरूप भागवत-धर्मानुष्ठान कर परमानन्दघन भगवान को प्राप्त करें। भगवदाज्ञानुसार न करने से "न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि" के अनुसार विनाश होगा। भगवदाज्ञानुसरण से "सिद्धि विन्दति मानव:" के अनुसार परप्रेमास्पदपरमानन्दघन-भगवत्प्राप्तिलक्षण सिद्धि मिलेगी।

श्रीमद्भागवत के उपक्रम में ही स्वधर्मानुष्ठान को क्रमश: भगवत्प्राप्ति में हेतु बतलाया है।

> **"धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।**
> **अर्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय न स्मृत:॥**
> **कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।"**

किसी का मत है कि अग्निहोत्रादि धर्म का फल अर्थ, अर्थ का फल काम अर्थात् विषयोपभोग और काम का फल इन्द्रियप्रीति है। परन्तु वास्तव में "धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य" अपवर्ग के हेतुभूत धर्म का मुख्य अर्थ नहीं है, अपितु परमानन्दावाप्तिलक्षण मोक्ष ही मुख्य फल है। अर्थ तो अबोध शिशु को अभिलषित-खण्ड लड्डूकादि के समान आनुषङ्गिक होने से गौण है। एवम् आनुषङ्गिक-गौण-फल-भूत अर्थ का भी काम अर्थात् विषयोपभोग मुख्य फल नहीं है, किन्तु अर्थ का मुख्य फल

श्रम ही है। भोग तो शरीर-यात्रा-निर्वाहान्यथानुपपत्ति से प्रारब्धवश अयत्लोपनत भी हो सकता है, अर्थात् भोग तो प्रारब्ध से अनायाश ही प्राप्त हो सकता है। यदि भोग की प्राप्ति न होगी, तो शरीर यात्रा का निर्वाह ही न हो सकेगा, अतः गौण है। "**अर्थस्य धर्मैकान्तस्य**" "**धर्मः श्रुतिस्मृतिचोदनाबोधिताग्निहोत्रादिलक्षणः एकान्तः मुख्य प्रयोजनं यस्य तथोक्तस्य।**" एवं अर्थ के गौण फलभूत भोग का भी इन्द्रिय-प्रीति मुख्य फल नही है, अपितु शरीर या प्राण-धारण ही। इन्द्रिय-प्रीति तो आनुषङ्गिक है, एवं प्राणधारण का मुख्य फल तत्त्वजिज्ञासा है।

इस उपर्युक्त कथन से सिद्ध होता है कि अर्थ का परमोत्कृष्ठ प्रयोजन वर्णाश्रमानुसार श्रौत स्मार्त यज्ञ, दान आदि लक्षण धर्म ही है एवं धर्म का परमोत्कृष्ट फल सकलाकल्याणगुणप्रत्यनीक निखिल कल्याण गुणगणास्पद भगवत्तत्त्व की प्राप्ति स्वभाव परमप्रेमास्पद भगवत्स्वरूपावस्थान है।[१] अतएव कहा है।

> "**स वै पुंसां धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे[२]।**
> **अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति।।**"

अर्थात् वह वेदोपनिषत्सारभरिता भगवदीय सुधासूक्ति श्रीगीता में प्रसिद्ध परमेश्वराराधन बुद्धि से क्रियमाण श्रौत-स्मार्त कर्म ही परमोत्कृष्ट धर्म है कि जिससे अधोक्षज भगवान् में अहैतुकी[३] तथा अप्रतिहत[४] भक्ति हो।

यद्यपि सकाम कर्म भी परम्परा से भगवदनुरक्ति के ही हेतु हैं। तथापि पर यह तत्त्व समझना चाहिए कि दर्पणस्थनीय चितितत्त्व में प्रतिबिम्ब

---

१. कल्याण गुणगणार्णव भगवान् की प्राप्ति अथवा निर्गुण ब्रह्मस्वरूप से अवस्थिति।

२. अधोभूतानि अक्षजानि ज्ञानानि यस्मात् स अधोक्षजः।

३. फलानुसन्धान रहित।

४. किन्ही भी विघ्नों से अनभिभूत।

स्थानीय चैत्य अर्थात् दृश्य अध्यस्त है। यद्यपि लौकिक प्रतिबिम्ब, दर्पण आदि से अतिरिक्त स्थल में स्थित बिम्ब की अपेक्षा करता है, तथापि जैसे मृन्मय घट आदि मृत्तिका के रहने पर ही होते हैं, मृत्तिका के न रहने पर नहीं होते, अतः वे मृत्तिका मात्र ही है। इसी तरह प्रमाण से अभिव्यक्त चितिदशा में ही चैत्य की उपलब्धि होती है, अन्यथा नहीं। अतः अपरिच्छिन्न कूटस्थ चितिव्यतिरिक्ति स्थल में पृथक् रूप से अनुमित भी शक्ति के योग से बिम्बानपेक्ष चैत्य की केवल दृष्टि से ही सृष्टि होती है। जैसे मृत्तिका की घट आदि रूप से परिणति होती है वैसे कूटस्थ नित्य होने के कारण चितितत्त्व की चैत्यरूप से परिणति तो हो नहीं सकती, विवर्त के बिना कूटस्थ चितितत्त्व में दृश्य प्रपञ्च का अधिष्ठान में अतात्त्विक दृश्य का अन्यथा भान-रूप विवर्त मानना चाहिए।

अधिष्ठान के यथार्थ ज्ञान से साध्य, प्रमाता, प्रमाण प्रमेय आदि दृश्य के अत्यन्ताभाव का अधिकरण रूप जो चिदात्मा उसके स्वरूप से अवस्थानरूप मोक्ष सिद्ध होता है। परन्तु जैसे प्रतिबिम्ब विषयिणी दृष्टि के समय में वैशिष्ट्य रूप से दर्पण की अवगति होते हुए भी, प्रतिबिम्बविरहित शुद्ध दर्पण की अवगति नहीं होती ,एवं चैत्यविषयिणी वृत्तिका अभ्युत्थान नहीं होता। जब तक प्रमातृप्रयुक्त दृष्टियों का अभ्युत्थान होता रहेगा, तब तक तत्सृष्ट चैत्यों की प्रतीति अनिवार्य है। किं बहुना, दृष्टि स्वयं भी चितिप्रकाश्य होती हुई मेघ के समान आवरण ही है। जैसे मेघावभसकत्वेन अनुमीयमान भी मेघाच्छन्न रवि का याथात्म्य अवगत नहीं होता, वैसे ही वृत्ति से परतत्त्व प्रकाश्य नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जैसे मेघों का प्रकाशन होने से सूर्य का अनुमान तो होत है, पर उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता, वैसे ही वृद्धि का भासक होने से चितितत्त्व का अनुमान तो होता है पर यथार्थ-ज्ञान नहीं होता।

इसी वास्ते प्रणादि पञ्चवृत्तियों के निरोध की आवश्यकता है। जैसे छायानुगामी, अपनी छाया का ग्रहण नहीं कर सकता, वैसे ही वृत्ति के अनुकूल व्यापारवाला पुरुष वृत्ति-निरोध नहीं कर सकता। पञ्चवृत्तिक मन का निरोध अपेक्षित है, उसके लिये वागादि इन्द्रियों का निरोध अपेक्षित है, उसके लिए ही देहादि चेष्टाओं का निरोध भी आवश्यक है। मन आदि का निरोध यद्यपि प्रमाण प्रयोक्ता प्रमाता के ही अधीन है, जैसे, कुठार आदि के द्वारा कर्ता छेदन आदि क्रिया करने न करने में समर्थ है, वैसे ही प्रमाता भी मन का प्रयोग करने न करने में समर्थ है, तथापि अनादि काल सङ्कल्पजन्य वेग से युक्त मन सहसा निरुद्ध नहीं किया जा सकता, जैसे कि अतिचञ्चल दम्य वनचर गज बिना कुछ आनुकूल्यानुसरण के सहसा शान्त नहीं किया जा सकता। अतः प्रथम अक्लिष्ट वृत्तियों से क्लिष्ट वृत्तियों का निरोध करना चाहिये अर्थात् सात्त्विक शान्त वृत्तियों से घोर, मूढ, राजस, तामस वृत्तियों का निराकरण करना चाहिए। उसी के लिये देहेन्द्रियों की राजस तामस प्रवृत्तियों का भी निराकरण सात्त्विकी प्रवृत्तियों से करना चाहिए। इस वास्ते हितैषी वेद भगवान् स्वाभाविक लौकिक कामकर्मज्ञानरूप मृत्यु के निराकरण के लिये अलौकिक वैदिक काम-कर्म-ज्ञान का विधान करते हैं। किं बहुना भगवदाभिमुख्य में प्रतिबन्धक द्वेष आदि अभिनिवेश की निवृत्ति के लिये, एवं द्वेष के वेग से द्वेषी के नाश के लिये अनेक अनर्थों से युक्त लौकिक उपायों की अपेक्षा निर्बाध आभिचारिक कृत्यों का भी विधान करते हैं क्योंकि शास्त्र सभी के हितोपदेष्टा हैं-

"शिष्यते हितमुपदिश्यते अनेनेति शास्त्रम्"

परम अनर्थकारी प्राप्त वेग को सर्वथा रोक देना हित है। अल्प अनर्थकारी उपाय का प्रलोभन देकर रोक देना भी हित है। पश्चात्

वेग के शान्त होने पर स्वयं ही या अन्य सत्पुरुषो के उपदेश से विचार का उदय होने पर अथवा सामग्री के सम्पादन मे आयास, भय यथा आलस्य से उदासीन हो सकता है। उदासीन न होने पर भी वैदिक उपाय अल्प अनिष्टकर तथा शास्त्राचार्य देव समाश्रयण पूजन आदि कुछ पुण्य सम्मिश्रित है, और प्रायश्चित्त से सर्वथापि अनिष्टो का अपाकरण हो सकता है।, इसी तरह वेद भगवान् पशु, पुत्र आदि की कामना करने वाले पुरुष को लौकिक उपायो के बदले अव्यभिचरित अलौकिक उपायों का उपदेश करते हैं। वैदिक कृत्यों में रुचि बढ़ाकर परम उत्कृष्ट स्वर्ग आदि पारलौकिक सुख की कामना उसकी प्राप्ति के उपाय, उसके बाधक यथेष्टाचरण (कामचार, कामवाद और कामभक्षण) और उससे निवृत्ति का उपदेश कर लौकिक कामना, लौकिक उपायों एवं उच्छृङ्खल पाशविक प्रवृत्ति से हटाते हैं । तदनन्तर परमानन्दघन परब्रह्म की प्राप्ति मे कृतार्थता और अप्राप्ति में महती विनष्टि या कृपणता का उपदेश करते हैं, तथा केवल परमात्म तत्त्व प्राप्ति-विषयणी उत्कट अनुरक्ति या तृष्णा-सम्पादन द्वारा ऐहिक और आमुष्मिक सकल सुखभोग तृष्णा का विध्वंस कर केवल भगवदाराधन बुद्धि से परमप्रेमास्पद परमात्मपद पाने की इच्छा से श्रौत-स्मार्त कर्म करने की आज्ञा देते हैं।

इस वास्ते सकाम कर्म भी लौकिक कामना-रूप मृत्यु से बचाकर परंपरया परमतत्त्व की ओर प्रवृत्ति में हेतु होने से भगवदाराधन ही है। अतएव सभी संहिता तथा शतपथ आदि ब्राह्मण-भागों में सकाम कर्म ही अधिकांश रूप से प्रतिपादित है। यहाँ तक चौदह काण्ड शतपथ में तेरह काण्ड तक ही नहीं अपितु चौदहवें काण्ड के भी कुछ भाग में सकाम कर्म या उपासनाएँ वर्णित हैं, क्योंकि देखते ही हैं कि अधिक मात्रा में संसार चार्वाक सिद्धान्तानुयायी हो रहा है, सब लोग पुत्र, वित्त, कलत्र, पश्वादि लौकिक वासना में ही

...न है, फिर इससे विलक्षण अशेष विशेष प्रत्यनीक, अदृश्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश पदप्राप्ति का इच्छुक या अधिकारी कैसे हो सकते हैं? अतः परमात्मतत्त्व की प्राप्ति वाञ्छा का प्रतिबन्धक लौकिक वासना एवं फल-साधनविषयिणी लौकिक-प्रवृत्ति-रूप मृत्यु के हटाने के लिये अधिक मात्रा में आमुष्मिक फल तथा तदुपायभूत सकाम कर्मों का उपदेश ठीक ही है। परन्तु "**इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति**" यो ह वै गार्गि एतदक्षरमविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः" के अनुसार यह सकाम कर्म भगवदाराधन बुद्धि से क्रियमाण कर्म की अपेक्षा बहिरङ्ग होने से अपर है। उसकी अपेक्षा भगवच्चरणांबुज में समर्पित वर्णाश्रमानुसार श्रौत स्मार्त यज्ञ, तप, दानादि निष्काम कर्म अखिलरसामृत मूर्तिपरमानन्दघन नन्दनन्दन की चरणारविन्दमकरन्दविषयिणी परमानुरक्ति का हेतु होने से परमोत्कृष्ट धर्म है। इसी वास्ते कहा है-

"**धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।**
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्।।"

ठीक ही है, मुख्य फल ही अनुपत्ति पर्यन्त कारणविषयक प्रयत्न केवल श्रम ही तो है। "**स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्**" अर्थात् हरि भगवान् की प्रसन्नता ही कर्तृक्रिया-वैगुण्य-विरहित वर्णाश्रम ...शः अनुष्ठीयमान धर्म का मुख्य फल है। भगवान की प्रसन्नता ... पर फिर क्या अशिष्ट रहा? इसी वास्ते प्रणत-भयहारी, ...वत्सल भगवान् परमरहस्य श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहाससारभूत निजप्राप्तिका ...रण कारण परम प्रिय अन्तरंङ्ग शिष्य एवं सखा किरीटी से ...ते हैं-

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।"

मदर्थं श्रौतस्मार्तलक्षणानि कर्माणि करोतीति स तथोक्तः''

हे प्रिय पाण्डुनन्दन ! मेरे में समर्पण-बुद्धि से श्रौतस्मार्त कर्मों को करता हुआ, एवं मुझ नित्य, निरतिशय, विविध विचित्र, ऐश्वर्य, सौन्दर्य माधुर्य, सुधानिधि वासुदेव को ही परम-ध्येय, श्रेय, प्राप्य मानने वाला, ऐहिकामुष्मिक सकल सुख-भोग से निर्विण्ण मानस "अहेरिव गणाद् भीतः'' ("भोग तज्यो जिमि रोग लोग जिमि अहिगण'') एवं किसी से कुछ प्रयोजन न होने से तन्मूलक वैरभागव से अतीत, अर्थात् स्वापकारी के प्रति भी विज्ञजन समितिन्यक्कृत अत्यासुर वैर-विवर्जित होकर, निष्प्रयोजन अचेतन तृणादि का भी त्रोटन न करने वाला पुरुष, श्रवणकीर्तनादि क्रम से छल रहित वैदिकी और तांत्रिकी परिचर्या से भी मेरा अर्चन करते हुए कायिकी, वाचनिकी, मानसी आदि समस्त प्रवृत्तियों का मदुन्मुख कर, समुद्र में नदियों की तरह मसृणित मानस में प्रकट हुए परमानन्दरसामृत सिन्धु में विलीन कर देता है।

"एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः।।''

इस वाक्य के अनुसार प्रमाणदि-रूप वृत्तियों के विलीन होने पर प्रमाणाश्रयरूप प्रमाता का अत्यन्त अभाव हो जायगा, तदनन्तर तत्प्रयुक्त वृत्तिविषयरूप प्रमेय का भी अपलाप सिद्ध ही हो जायगा । फिर दृष्टि न होने से तत्सृष्ट चैत्य के अभाव में निर्विघ्न वेदान्तवाक्यजन्म-वृत्ति से अभानापादक, असत्त्वापादक आवरणद्वयशक्तिमती अनिर्वाच्य अविद्या की निवृत्ति होगी, तब निष्प्रतिविम्ब दर्पण के समान निश्चैत्य चिदात्मनावस्थानलक्षण नित्यसिद्ध मोक्ष अयत्न प्रकट हो जायगा। इस तरह शास्त्र और आचार्य के प्रसाद से सहकृत मेरे प्रसाद से वह पुरुष मुझ अज, अव्यक्त,

अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, अशेषविशेषातीत परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। अत एवं "एवं सततयुक्ता ये" इत्यादि प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने 'मत्कर्मकृत्' इत्यादि के अनुसार अपने उपासक को युक्ततम कहा है-

"तेषामहं समुद्धर्ता",
"ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते"

ऐसे ही अपने असाधारण वर्णाश्रमानुसार श्रुतिस्मृति-प्रतिपाद्य यज्ञ, तप, दानादि नित्य नैमित्तिक धर्मों में निरत साधु पुरुषों तथा उनके धर्मों का समय-समय पर समुद्भूत भयंकर विप्लव से परित्राण के लिये, एवं भगवदाराधनात्मक वैदिक सन्मार्ग एवं तन्निष्ठों के विध्वंसक, लोकाहितकर, वेदशास्त्र-दूषक असुर राक्षसप्राय कुपुरुषों के विनाश के लिये ही अज, अव्यक्त, भगवान् अपनी अचिंत्याद्भुत योगमाया से अचिंत्य, महामहिम, वैभवशाली, सौन्दर्य-माधुर्य, मंगलमय विग्रह धारण कर श्रुति सेतुरक्षार्थ अवतीर्ण होते हैं। और स्वयं भी वेदशास्त्रानुकूल मर्यादा-परिपालन करते हुए, लीला पुरुषोत्तम होते हुए भी लोकोपदेशार्थ मर्यादा पुरुषोत्तम पद से भूषित होते हैं।

किं बहुना, ऐसे स्वधर्मनिष्ठ परमान्तरंग प्रेमियों के वशीभूत होकर तद्धर्म-परिपालनार्थ अपनी प्रतिज्ञा को भी छोड़ बैठते हैं-

"मत्प्रतिज्ञामृतांधिकमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्य: धृतरथ चरणोऽभययात् चलद्गुर्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीय:।"

ऐहिक और आमुष्मिक विविध स्वार्थ और परमार्थ के रहस्य को जानने वाले, स्वधर्मनिष्ट भीष्मजी जी प्रतिज्ञापूर्ति के लिये त्रिभुवनलोक नयनाभिराम, कोटिकन्दर्पदर्प-दलन-पटीयान् छविधाम, घनश्याम, अजित, अनवद्य, सर्वोत्कृष्ट होते हुए संजातसंरंभकुटिल-

कुन्तलभ्रुकुटितटोपेत एवं किंचिदरुणायमान अत एवं अलिकुल-मालासंकुल, परागपरिप्लुत, पंकजतिरस्कारकारी मुखवाले भगवान् ने रथ चक्र लेकर "यैः प्रायशोऽजित जितोऽप्यसितैस्त्रिलोक्याम्"[१] इस उक्तिको चरितार्थ कर दिया। ऐसे श्री हरि में भक्ति का एकमात्र उपाय स्ववर्णाश्रम धर्मानुष्ठान ही है।

"स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात्।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते।।"

अपना कल्याण तो 'अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते'[२] के अनुसार किसी श्रेष्ठ आचार्य के आज्ञानुसार आचरण करने वाला श्रद्धालु शास्त्रानभिज्ञका भी हो सकता है, परन्तु दूसरे के कल्याण के लिये तो विज्ञवैद्य की तरह सांगोपांग हानादिचतुष्टय[३] रहस्यज्ञ की ही आवश्यकता है।

बुद्धिमान् को चाहिए कि अपनी कुल-परंपरा से प्राप्त कुलवृद्धों की प्रतिष्ठापित मर्यादा का बड़ी सावधानी से पालन करें। आपाततः प्रतीयमान दोष या गुण से मर्यादा का परिवर्तन न करे, क्योंकि आधुनिक सामान्य प्राणियों की परिमित विज्ञानशालिनी बुद्धि दीर्घदर्शी कुल-वृद्धों की विचार-तह तक नहीं पहुंच सकती। इसी वास्ते शास्त्र विरुद्ध, शास्त्रप्रसिद्ध वृद्धोक्तियों की भी वेद भगवान् सर्वथा ग्राह्यता सूचित करते हैं-

"इति शुश्रुमधीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।"

जो वैदिक-धर्म को भी नहीं मानते हैं, उन्हें भी कोई प्रबल मनुष्य किसी दुर्बल मनुष्य के सुन्दर कलत्र, वित्त का अपहरण न

१. हे अजित, त्रिलोकी में अजित होते हुए भी आप भक्तों से जीते जाते हैं।
२. अपने अपने वर्णाश्रम धर्मरूप तप से भगवान् के प्रसन्न होने से पापरहित पुरुषों को भगवान् में भक्ति होती है।
३. हान तथा हान-हेतु और हेय तथा हेय-हेतु।

कर ले इत्यादि राष्ट्रीय विप्लव-वारणार्थ, विज्ञजन-समितिनिर्धारित मर्यादा का पालन करना पड़ता है, एवं वह देशकाल भेद से अदीर्घदर्शियों के अनुकूल या प्रतिकूल होती हुई भी अपरिवर्तनीय होती है। इसी वास्ते यह भी एक सार्वदेशिक धर्म का लक्षण है कि जिस देश में, जिस जाति में, जिस कुल में जो पुरुष तत्रत्य प्राय: सभी पुरुषों से उत्कृष्ट माना गया हो उसके उपदेश या तदनुसार आचरण ही प्राथमिक धर्म में प्रमाण है। आचार्य बालक से किसी रेखा को (क) बतलाता है, यदि बालक क्यों या कैसे इत्यादि प्रश्न करे, तो आचार्य क्या समझा सकता है और बालक समझ भी क्या सकता है? परन्तु बिना तर्क किये श्रद्धा से उसी रेखा को (क) मान ले तो शनैः शनैः बुद्धिमान् होकर स्वयं समझ लेता है। यदि पहले से ही विवाद में पड़ जाय तो बालक मूर्ख ही रह जायगा । इसी वास्ते आज भी कुछ अनार्य जातियों में कट्टरता देखी जाती है । यह बात तो हुई संभावित दोषवाले पुरुषों द्वारा कल्पित धर्मों की, फिर प्रक्षालितसकलपुंदोषशंकाकलंकपंक, अर्थात् सकल पुरुषदोष शङ्का विरहित, अपौरुषेय वेदों में, एवं तदनुसारी पुरुषों से प्रतिष्ठापित मर्यादाओं में, तो कहना ही क्या है? परन्तु दुर्दैव-योग से वर्णाश्रमवती भारतीय प्रजा आज अनार्यों से भी कहीं अधिक मात्रा में उच्छृखंल दिखाई दे रही है । आज प्रचीन मर्यादा तथा तदनुसारी पुरुष अवहेलना की दृष्टि से देखे जा रहे हैं । परिच्छिन्न ज्ञानक्रिया-शक्ति संपन्न लोग भी प्राचीन पद्धति का परिवर्तन या पद्धत्यन्तर के निर्माण की आवश्यकता समझते हैं । किसी को देखो वही अपनी परिस्थिति से असन्तुष्ट होकर विप्रलिप्सा या मोहवश सम्प्रदायान्तर चलाने का दु:साहस कर बैठता है। इसी का परिणाम [illegible] मतभेद, गृहकलह तथा व्यष्टिगत या समष्टिगत आध्यात्मिक, आधिभौतिक उन्नति का प्रति बन्ध ही नहीं अपि तु धनक्षय, जनक्षय

एवं शक्तिक्षय हो रहा है। इतने पर भी "अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता" के अनुसार अवनति को ही उन्नति, धर्म को ही अधर्म अनीतिको ही नीति मानकर प्रजा आंख नहीं खोलना चाहती

परन्तु फिर भी सदा ऐसा धर्म-विप्लव नहीं रहेगा। धर्मवत्सल भगवान् अपने धर्म का रक्षण अवश्य करेंगे। एक दिन वह था कि जब तमाम भारत में बौद्ध जैनादि धर्मों के सिवा वैदिक धर्म बहुत ही अल्प मात्रा में उपलब्ध होता था। उस समय किसे विश्वास रहा होगा कि वैदिक धर्म पुनः फलित और प्रफुल्लित हो सकेगा? परन्तु प्रातःस्मरणीय श्री ११०८ श्री जगद्गुरु शंकर भगवत्पादों के प्रादुर्भाव होते ही वह धर्म विप्लव कहीं रह सका? याद रहे कि विशुद्ध सनातनी चाहे कितनी भी अवनति में क्यों न हों, परन्तु उच्छृङ्खल-पन्थियों को तिलांजलि ही देते जायेंगे। आपके सामने कितने त्यक्त-समाज हैं। दुनिया में सभी समाज अपनी तरफ बुलाना चाहते हैं, परन्तु अधिकार की चर्चा सनातन धर्म में ही उठती है। यहां अनधिकार चेष्टावाले बड़े समुदाय को त्यागते देरी नहीं होती, फिर बाह्यों की तो बात ही क्या? इस अन्तर वैदिक सिद्धान्त-शिरोमणि की अवस्थिति कूड़ा करकट के समान बहुत से उच्छृङ्खल कुपुरुषों की अपेक्षा नहीं रखती। यह तो केवल सर्वात्मा सर्व-शक्तिमान् भगवान् के ही बल पर गर्वित रहती है। तथापि एक बार साधर्म्य तथा सजातीयता के नाते चेतावनी दे देना अपना कर्त्तव्य है।

विज्ञ, निर्मत्सर महापुरुष तथा उनके अनुयायियों को चाहिए कि दुराग्रह छोड़कर वेद, शास्त्र, सत्पुरुषादि प्राचीन-पद्धति का ही समानुसरण करें, लेखक का यही नम्र निवेदन है। मानना आपकी इच्छा पर निर्भर है।

सहृदय सुज्ञ सत्पुरुष धैर्यपुरस्सर लेखक के अभिप्राय के पूर्वापर को समझ कर फिर चाहे गुणदोष का वर्णन कर सकते हैं। निरीक्षण

करके दोष-वर्णन करना भी सत्पुरुषों को सुखप्रद होता है। बिना अभिप्राय समझे मूर्ख से वर्णित गुण भी दुःखप्रद ही होता है। आशा है सभी भव्यमति वर्णित दोषों को अनिष्टप्रद समझ उपेक्षा कर स्वाधिकारानुसार वेद-वेदाङ्गाध्ययनाध्यापन, तदर्थानुष्ठान-पूर्वक श्री हरि के गुण कर्म एवं नाम का श्रवण कीर्तन आदि भक्ति के रस का आस्वादन करते हुए गोवत्सवत् भीम भवार्णव के पारंगत होकर श्री हरि की प्राप्ति के प्रयत्न में स्वयं तथा स्वानुयायियों को प्रवृत्त करेंगे।

सांगवेदाध्ययन

तृतीय-परिच्छेद

ऐहिक उन्नति का भी सर्वोत्तम साधन-वेदशास्त्र

संस्कृत-साहित्य-रहस्यज्ञों से तिरोहित नहीं कि वेद तथा वेदाङ्ग ऐसी अद्‌भुत ईश्वरीय सम्पत्ति मनुष्य को सुलभ है, उसे विधिपूर्वक प्राप्त कर तथा उसके रहस्य को जान कर प्राणी धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष चारों ही पुरुषार्थों को बड़ी ही सरलतापूर्वक प्राप्त कर सकता है। यद्यपि पराङ्मुख पुरुषों को अर्थ और काम ही अभीष्ट प्रतीत होते हैं, तद्व्यतिरिक्त धर्म या मोक्ष की ओर उनका ध्यान नहीं होता, तथापि प्रत्यङ्मुख महानुभावों को तो मुख्य रूप से धर्म और मोक्ष ही अभीष्ट होता है। अर्थ और काम को वे आनुषङ्गिक समझते है, यहां तक कि वेदाध्ययन का फल वेदार्थज्ञान तथा तदर्थानुष्ठान द्वारा स्वर्गादि पारलौकिक फलप्राप्ति पर्यवसानत: अभीष्ट होने पर भी अक्षर प्राप्ति ही मुख्य फल माना है।

सायणाचार्यादि विद्वत्प्रवरों ने इसीलिये "स्वाध्यायोऽध्येतव्य:" इत्यादि स्वाध्याय पदवाच्य सकल वेदराशि के अध्ययन की विधि को नित्यविधि माना है। यद्यपि स्वाध्याय शब्द से "**अधीयते गुरो: सकाशात् इति अध्याय:, स च वेद, स्वाध्याय:**" इस व्युत्पत्ति के अनुसार पितृपितामहादि परम्परा-प्राप्त स्वशास्त्रीय वेद ही गृहीत होता है, तथापि '**वेदानधीत्य वेदौं वा वेदं वापि यथाक्रमम्**' इत्यादि

याज्ञवल्क्य वचनानुसार उपनीत त्रैवर्णिकों को समस्त वेद का अध्ययन प्राप्त है। इसीलिये स्वाध्याय शब्द से स्वशाखोपलक्षित सकल वेदराशि का ग्रहण आचार्य लोग मानते हैं। यह स्वाध्यायाध्ययन काम्य नहीं है, किन्तु नित्य है, ऐसी शास्त्र रहस्यज्ञों की सम्पत्ति है। अभिप्राय यह है कि जिसके अकरण में प्रत्यवाय हो, तथा जिसका फल श्रुत न हो वह नित्यकृत्य समझा जाता है।

वेदके अध्ययन न करने में पतन होता है, ऐसा तैत्तिरेय आरण्यक से ज्ञात होता है- **''अपहतपाप्मा स्वाध्यायो देव पवित्रं या एतत, तं योऽनूत्सृजयभागो वाचि भवत्यभागो नाके तदेषाभ्युक्ता।''** ऋग्वेद में भी ऐसा ही कहा है- **''यस्तित्याज सखिविंद सखायं न तस्य वाच्यपि भागोऽस्ति यदीदं शृणोत्यलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्।''** तात्पर्य यह है कि स्वाध्याय सर्वविध पापों का निवारक एवं परम पावन है। उसे जो अध्ययन न करके छोड़ देता है, उसके वचन में सौभाग्य नहीं, क्योंकि सकल देवताओं के साथ धर्म तथा ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले वेद का उच्चारण न करके, परकीय निन्दा तथा मिथ्याकलह की हेतुभूत लौकिकी वार्त्ताओं को उच्चारण करती हुई वागिन्द्रिय का दौर्भाग्य सुस्पष्ट ही है।

वेद सखा के समान अध्येताओं का पालन करने वाले हैं, कारण कि बहुवित्त तथा बहुप्रयास साध्य यज्ञादि का फल अध्ययन मात्र से संपादन करते हैं। यथा 'यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवति'' अर्थात् जिस क्रतु का अध्ययन करता है, मानों उस उस क्रतु से यजन होता है। यद्यपि यह ब्रह्मयज्ञरूप स्वाध्याय का फल है कि प्राथमिक गुरु परम्परापूर्वक अध्ययन के पश्चात् यज्ञ बुद्धि से ब्रह्म (वेद) का पाठ का प्रत्यावर्त्तन रूप होता। इसी का फल

आदित्यादि सायुज्यप्राप्त्यादि भी है। तथापि प्राथमिक वेद ग्रहण के अनन्तर ही ब्रह्मयज्ञ रूप स्वाध्याय हो सकता है। अतः अध्ययन से ही तत्तफल प्रदान कर वेद भगवान अध्येताओं का पालन करते हैं। अतः ठीक ही है कि उनका त्याग करने वालों की वाणी में भी सौभाग्य नहीं है फिर ऐहिकामुष्मिक सौभाग्य न हो, इसमें कहना ही क्या? जो लोग वेद को परित्याग कर बहुत से काव्य नाटकादि का श्रवण करते हैं, उनका वह श्रम निरर्थक ही है, क्योंकि उससे सुकृत का मार्ग नहीं जाना जा सकता, जैसा कि मनुजी ने भी कहा है-

योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम्।
सजीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।।''

इस तरह वेद के अनध्ययन में पातित्य होता है, अतः वेदाध्ययन विधि नित्यविधि है, जैसे सन्ध्या वन्दनादि के अकरण में प्रत्यवाय होता है, अतः उसकी विधि नित्यविधि होती है। यद्यपि कहा जा सकता है कि प्राणीमात्र की चेष्टा बिना किसी फलविशेषाभिलाष के नहीं हो सकती-

''अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते जन्तुः तत्तत्कामस्य चेष्टितम्।।''

तथापि अकरण-प्राप्त प्रात्यवाच भी अनिष्ट हेतु होने से तत्परिहारार्थ नित्य-कर्मों का अनुष्ठान हो ही सकता है। यदि कहा जाय कि विहिताकरण तो अभाव रूप है और प्रत्यवाय (पाप) भाव रूप है, फिर अभाव से भाव की उत्पत्ति कैसे हो सकती है, यद्यपि शून्यवादी आदि असत् से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं, तथापि वह असङ्गत है, यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति हो तब तो अभाव सर्व प्राणियों को सर्वत्र तथा सर्वदा सुलभ होने के कारण कार्योत्पादन

में कठिनाई ही न पड़े। अतएव श्रुति भी कहती- **''कथमसतः सज्जायेत''**।[१]

बात यह है कि विहिताकरण का अर्थ विहित से व्यतिरिक्त करण या विपरीत करण होता है, जैसे अधर्म, अब्राह्मण, इन शब्दों से केवल धर्माभाव या ब्राह्मणाभाव नहीं गृहीत होता, किन्तु धर्म विपरीत अधर्म एवं ब्राह्मण व्यतिरिक्त क्षत्रियादि ही गृहीत होते हैं, तद्वत् विहिताकरण से अभाव मात्र नहीं गृहीत होता, किन्तु विहित व्यतिरिक्त चेष्टादि ही विहिताऽकरण से विवक्षित है। जिस देशकाल में जिस पुरुष के लिये जो कृत्य विहित है, यदि वह पुरुष करेगा, तो भी कुछ तो करेगा ही पुरुष बिना कुछ कर्म किये, क्षण भर भी नहीं ठहर सकता, क्योंकि चल स्वभाव गुणपरतन्त्र इन्द्रियों से हठात् कुछ करना ही पड़ता है-

''न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठात्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।''

इस तरह विहित व्यतिरिक्तकरण को ही विहिताऽकरण कहते हैं। अतः उससे भावरूप पातित्य के होने में कोई अनुपपत्ति नहीं। किसी का कहना है, 'अकुर्वन्' इस पद में शतृ प्रत्यय हेतु में नहीं, किन्तु लक्षण में है। यदि हेत्वर्थक शतृ प्रत्यय होता तो 'विहिताकरणं पतनहेतु' ऐसा शब्दबोध होता। पर यहाँ शतृ प्रत्यय, लक्षण में है, अतः विहिताऽकरणं पतनलक्षणम्' अर्थात् विहिताकरण पतन का लक्षण है ऐसा शाब्दबोध होता है।

अभिप्राय यह कि चलस्वभाव प्रकृतिज गुणों से प्रेरित होकर प्राणियों के बुद्धीन्द्रियदेहादिकों की सदसत् (उचितानुचित) प्रवृत्ति हुआ करती है। यदि अनुचित पाशविकी प्रवृत्ति-रूप मृत्यु से बच

---

१. अर्थात् असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

सकेगा। अन्यथा ऐसी मृत्यु से अवश्य ही प्राणी को समाक्रान्त होना पड़ेगा।

> **''नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः।**
> **विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः।।**
> **वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।**
> **नैष्कर्म्यसिद्धिं लभते रोचनार्था फलश्रुतिः।।''**

फलाभिसन्धि शून्य होकर परमेश्वराराधनबुद्ध्यवा परमेश्वर में समर्पित कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ प्राणी सुखपूर्वक नैष्कर्म्यसिद्धि को प्राप्त कर लेता है। यद्यपि प्रत्येक पुरुष को दुःखात्मक-व्यापारविरहित आत्मस्वरूप मोक्ष अभीष्ट होता है, तथापि उसकी प्राप्ति शास्त्रोक्त व्यापार से ही होती है। कारण कि फलगोचर प्रयत्न नहीं होता, अपितु साधनगोचर ही प्रयत्न साध्यसिद्धि में समर्थ होता है, जैसे काष्ठ का द्वैधी भावरूप फलगोचर पुरुष का व्यापार नहीं होता, अपि तु साधनरूप दण्ड के उद्यमन निपातन में ही पुरुष का प्रयत्न होता है। इसी नैष्कर्म्यप्राप्ति रूप फल में प्राणी-प्रयत्न असम्भावित और नैष्कर्म्य सिद्धि का साधक है। इस तरह विहित नित्य कर्म का अकरण स्वाभाविक कामकर्म रूप मृत्यु मुख में पतन का लक्षण है।

यह बात नित्य कर्मों के विषय में ही है, काम्य कर्मों के विषय में नहीं। परन्तु कुछ कर्म ऐसे भी हैं जो नित्य भी हैं। और काम्य भी, जैसे अग्निष्टोमादि। 'स्वर्गकामः अग्निष्टोमेन यजेत' इस वचन के अनुसार स्वर्गकामना से भी अग्निष्टोम का अनुष्ठान किया जाता है, अतः वह काम्य है। तथा बसन्ते बसन्ते ज्योतिषा यजेत' यहां साभ्यास दो बार 'बसन्त पदसाहचर्य से अग्निष्टोम की नित्यता पायी जाती है। 'वसन्ते वसन्ते इस द्विरुक्ति का यही अभिप्राय है। कि

प्रत्येक वसन्त ऋतु में ज्योनिष्टोम करे। जैसे **'अहरह' सन्ध्यामुपासीत'** यहां अह ' पद की द्विरुक्ति से प्रति-दिवस सन्ध्यावन्दन की विधि समझी जाती है। जैसे प्रतिदिवस सन्ध्या के न करने से प्रत्यवाच होता है, किंवा प्रतिदिवस सन्ध्यावन्दनाकरण प्रत्यवाय का लक्षण है वैसे ही प्रत्येक वसन्त में ज्योतिष्टोम अवश्य करना चाहिये तथा वसन्त-वसन्त में ज्योतिष्टोम के अकरण से प्रत्यवाय होता है । इसी से ज्योतिष्टोम नित्य कर्म माना जाता है।

यदि कहा जाय कि ज्योतिष्टोम नित्य कर्म है । तब तो उसके अकरण में प्रत्यवाय भय से उसके करण में यथशक्ति सभी को कर्तव्यनिष्ठ होना चाहिये । कारण नित्यकर्मों में 'यथा शक्नोति' का अध्याहार होता है, अर्थात् यथा शक्नुयात्तथा कुर्यात्' जैसे समर्थ हो वैसे ही करना चाहिये। परन्तु मनु आदिको ने बहुदक्षिण यागों का अकिञ्चनों के लिये निषेध किया है, यथा—

"पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्दधानो जितेन्द्रियः।
नत्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैर्यजेतेह कथञ्चन।।"

ब्राह्मण वृत्तियों में उछशिलादि का ही अधिक महत्त्व बतलाया है इसीलिये चार वृत्तियो का निषेध करके

"कुशूलधान्यको वा स्यात् कुम्भीधान्यक एव वा।
त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा"

अर्थात् ब्राह्मण को कुशूलपरिमित धान्य रखने वाला अथवा [illegible] धान्य रखने वाला अथवा तीन दिन की भोजन सामग्री [illegible] अश्वस्तनिक (दूसरे दिन के लिए कुछ न रखने वाला) [illegible] । इनमें 'ज्यायानेषां परः परः' इत्यादि वचन से [illegible] वृत्ति वाले विप्र को ही श्रेष्ठ बताया है। वह अश्वस्तनिक [illegible] बहुदक्षिण ज्योतिष्टोमादि यज्ञ करने मे असमर्थ है। अतएव

उसके लिये 'इष्टी: पार्वायनान्तीया: केवला निर्वपेत सदा' इत्यादि वचनों से केवल पौर्णमासादि इष्टियों की ही अनुमति दी गयी है यदि ज्योतिष्टोम की अवश्य कर्त्तव्यता होती और 'केवला:' कह कर दर्शपौर्णमासादि इष्टि व्यतिरिक्त ज्योतिष्टोमादिकों का निषेध न किया जाता।

परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि समर्थ कुशूलधान्यक ब्राह्मणादिकों के लिये ही ज्योतिष्टोम का अकरण प्रत्यवायावह (पाप को उत्पन्न करने वाला) है, तदितर अश्वस्तनिकादिवृत्ति वालों के लिये नहीं।

अतएव-

''यस्स त्रैवार्षिकं वित्तं पर्याप्त भृत्यवृत्तये।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति।।''

अर्थात् जिसके पास तीन वर्षों तक वृत्ति के लिये पर्याप्त वित्त हो, या उससे भी अधिक हो वही सोमपान करने का अधिकारी है। अत: सिद्ध हुआ कि ज्योतिष्टोम भी नित्य ही कृत्य है। नित्य कर्मों का फल पापध्वसं है और ध्वसं नहीं हुआ करता। अत: पापध्वंस रूप फल नित्य है। यही नित्य कर्मों का नित्यत्व है अन्यथा देहादि चेष्टारूप सभी कर्म क्षणिक होने के कारण अनित्य हैं, तब उनकी नित्यता कैसे हो सकती है, ऐसा भी किसी का मत है।

इसके सिवा किसी का मत ऐसा भी है कि 'नित्य कर्म मोक्षरूप नित्य फल में परूर्यवसति होते हैं। यथा- ''तमेतमात्मानं ब्राह्मणा वेदानु वचनेन यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन विविदिषन्ति।'' इस वृहदारण्यक श्रुति से वेदानुवचन तथा यज्ञादिकों का इष्यमाण भगवत्तत्ववेदन में विनियोग पाया जाता है। अत: वेदानुवचनादि अन्त:करणशुद्धादि द्वारा वैराग्य, विविदिषा, श्रवण, मननादिक्रम से

भगवत्तत्व-ज्ञान
उपयुक्त होते
मीमांसक
मीमांसाभाष्यक
कर्मविबोधनं
कर्मविबोध
सायणाचार्य
वेदाध्ययन के
है कि 'वेदाध्
है और जिस
दृष्ट तृप्तिरूप
अत: उसकी
अत: अध्यय
यदि क
दृटार्थ ही है,
अर्थवाद में
का भी फल
नामक याग
स्वाध्यायोऽध्
करना चाहिये
करनी चाहिय
होता है, अ
तो ऐसा कह
कहीं विनियो
पर सिद्धन्ती

भगवत्तत्व-ज्ञान में उपयुक्त होकर मोक्षरूप नित्य फल में क्रमशः उपयुक्त होते हैं।

मीमांसक लोग वेदाध्ययन का फल दृष्ट ही मानते हैं। मीमांसाभाष्यकारशबरस्वामी का कहना है। कि 'दृष्टो' हि तस्यार्थः कर्मविबोधनं नाम' अर्थात वेद का कर्मविबोधरूप दृष्ट ही फल है। कर्मविबोध रूप फल भी पर्यवसानतः माना जाता है। अतएवं सायणाचार्य ने 'अक्षर-ग्रहणान्त' ही वेदाध्ययन की विधि मानी है। वेदाध्ययन के फल पर विचार करते हुए पूर्व पक्ष को लेकर कहा है कि 'वेदाध्ययन अदृष्टार्थ ही है, कारण उसकी विधि पायी जाती है और जिसकी विधि होती हैं। उसका अदृष्ट ही फल होता है। दृष्ट तृप्तिरूप जिसका फल है वह भोजनादि अदृष्टार्थ नहीं होता, अतः उसकी विधि भी नहीं होती परन्तु अध्ययन की विधि है, अतः अध्ययन अदृष्टार्थ ही है।'

यदि कहा जाय कि अदृष्ट विशेष कोई श्रुत नहीं है, अतः दृष्टार्थ ही है, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्मयज्ञ जपाध्ययनादि के अर्थवाद में श्रुत घृतकुल्यादि फल ही रात्रिसत्र-न्याय से नित्याध्ययन का भी फल मान लेना चाहिये। 'प्रतितिष्ठिन्ति ह वै ते य ही रात्रिसत्र नामक याग का फल माना गया है, वैसे ही 'घृतकुल्यादिकामेन स्वाध्यायोऽध्येतव्यः८' इस तरह घृतकुल्यादि अदृष्ट की कल्पना करना चाहिये अथवा विश्वजिन्न्याय से स्वर्ग रूप ही अदृष्ट की कल्पना करनी चाहिये। यदि कहा जाय कि अध्ययन से स्वाध्याय का संस्कार होता है, अथवा अक्षर-प्राप्ति ही अध्ययन का फल हो सकता है, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। कारण कि संस्कृत स्वाध्याय का कहीं विनियोग नहीं है और अक्षरप्राप्ति स्वयं पुरुषार्थ नहीं है। यहां पर सिद्धन्ती का कहना है कि स्वाध्याय प्रप्ति अर्थ-प्रमिति का हेतु

है, अतः स्वाध्याय-प्राप्त पुरुषार्थ हो सकता है: अध्ययन से संस्कृत सिद्ध होकर अध्ययन संस्कृत स्वाध्याय यज्ञों में उपयुक्त होता है ऐसा श्रुतार्थापत्ति से जाना जाता है।

दूसरी दृष्टि से वेदशास्त्र के ज्ञान से ही प्राणी धर्म, अर्थ काम मोक्ष सभी सम्पादन कर सकता है। बुद्धिमानों का ऐसा निश्चय है कि लौकिकं सौक्ष्य एवं उसका साधन, जो कुछ भी प्रपञ्च उपलब्ध होता है, वह सभी धर्म का ही फल है। दुःख और उसका साधन पाप का फल है। इसलिये जगत् का कारण धर्माधर्म भी माना जाता है अर्थात् जैसे जगत् का कारण परमात्मा है वैसे समष्टि प्राणियों का धर्माधर्म भी जगत का हेतु है। एक ही शब्द किसी को सुख पहुंचाता है, किसी को दुःख ही पहुँचाता है। अतएव यह भी दिखायी देता है कि कितने पुरुष सुख और तत्साधानों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हुए भी प्राचीन कर्म फल से ही वञ्चित रहते हैं। कुछ पुरुष लौकिक प्रयत्न न करते हुए भी प्राचीन सुकृत के प्रभाव से विविध प्रकार के सुख और तत्साधनसम्प होते हैं। क्या इन सभी बातों से नहीं ज्ञात होता कि अर्थ और काम में भी अधर्म परिवर्जन तथा धर्मानुष्ठान आवश्यक होते हैं, यद्यपि कितने स्थलों में देखा जाता है कि धर्मानुष्ठाननिरत लोग सन्तप्त हैं। और अधर्मनिरत लोग सुप्रसन्न सुखी हैं। इसी लिये आज पवित्र भारत भूमि में उत्पन्न पुरुष भी बाह्य कुसंस्कारों से दूषित हृदय उच्छृङ्खलगति अनायी की उन्नति देख कर श्रौत स्मार्त धर्म को उन्नति का कण्टक मान कर उच्छृङ्खलता की वाञ्छा ही अपनी तथा देश की उन्नति का कारण समझते हैं, और उसका प्रचार करना चाहते हैं।

परन्तु थोड़ा सा भी बुद्धि के साथ सम्बन्ध रखने वाला पुरुष समझ सकता है कि जैसे वर्तमान काल समुपार्ज्जित बीज का तत्क्षण

फल देना स्वाभाविक नहीं है, किन्तु पूर्वकाल में जो क्षेत्र में बोया जा कर धरणी अनिल जल के साथ संसृष्ट होकर अंकुरित हुआ है, वही बीज फल देने वाला होता है, वैसे ही वर्त्तमान काल का सुकृत या दुष्कृत वर्तमान सुख या दुःख का आरम्भक नहीं होता, अपितु जाति आयु तथा भोग का आरम्भ करने वाला प्रारब्ध कर्म वर्तमान शरीर तथा आयु एवं सुख-दुःख रूप भोग सम्पादन करने वाला होता है। जैसे सभी बीज क्षेत्र में बोये हुए भी समान काल में फल दे सकते, ठीक वैसे ही कर्म भी कोई कितने काल में फल देते हैं और कोई कितने काल में। अत्युग्र पुण्य या पाप यद्यपि प्रारब्ध को भी दबाकर शीघ्रता पूर्वक फलका आरम्भ करते हैं, तथापि प्रायः अन्य कर्म प्रारब्ध को दबाने में समर्थ नहीं होते, इसी वास्ते वर्तमान काल में सुकृत कर्मनिष्ठ भी प्राचीन दुरदृष्ट प्रारब्ध से दुखी होते हैं।

वर्तमान काल को देखें तो भी प्राक्तन सुकृतके बल से बहुत प्राणी अनेक विध सौख्यसम्पन्न देखे जाते हैं । इसी से धर्मनिष्ठ युधिष्ठिरादि संतप्त देखे गये तथा धर्म की उपेक्षा करने वाले दुर्योधनादि सौख्यसंपन्न थे । परन्तु परिणाम में धर्मराज की विजय और दुर्योधन का सर्वस्वनाश ही हुआ । बुद्धिमान का ध्यान परिणाम की ओर ज्यादा होता है । विषसंपृक्त सुमधुर पक्वान्न के भक्षण से भी तत्क्षण तुष्टि, पुष्टि, शान्ति तथा तृप्ति होती हैं, परन्तु उसका परिणाम मरण समझकर बुद्धिमान उसकी उपेक्षा करते हैं। इस तरह अधर्म दुःख का ही हेतु है और धर्म सर्वथा सुख का ही हेतु है । योगियों ने भी जाति आयु भोग आदि को कर्म का ही फल माना है । इस प्रकार सुख दुःख के हेतुभूत धर्माधर्म का ज्ञान एक मात्र वेदादिशास्त्र वश्यक है। गीता में श्रीभगवान ने प्रपञ्च मात्र की उत्पत्ति यज्ञ से ही बतलायी है-

''यज्ञाद् भवति पर्जन्यः यज्ञः कर्मसमुद्भवः।
अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।।

यह भी कहा कि प्रजापति ने यज्ञ के सहित प्रजाओं को रच कर प्रजाओं से कहा कि इस यज्ञ से तुम लोग देवताओं का आप्यायन करो और वे देवता लोग तुम्हारे अभीष्टधनधान्यादिप्रदान द्वारा तुम्हारा आप्यायन करें। इस तरह परस्पर भावना से तुम लोग अपना परम कल्याण संपादन करोगे।

यज्ञ क्या है, इसका स्वयं भगवान् ही वर्णन करते हैं। 'यज्ञः कर्मसमुद्भवः।' अग्निहोत्रादि कर्म से उत्पन्न अदृष्ट को यज्ञ कहते हैं। कर्म किसे कहते हैं, सो भी भगवान् ही कहते हैं— **'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि'** कर्म ब्रह्म यानी वेद से उत्पन्न होने वाला है और ब्रह्म (वेद) 'अक्षरसमुद्भवम्' वेद अक्षर परमात्मा से उत्पन्न है। इस तरह सर्वज्ञ परमात्मा से उत्पन्न वेद शास्त्र ही सर्वोत्कृष्ट शास्त्र है। वेद शास्त्र विदित कृत्य का अनुष्ठान मुख्य धर्म है और धर्म ही प्राणियों के ऐहिकामुष्मिक सब प्रकार अभ्युदय संपादन करता है। इसलिये व्यास भगवान का कहना है कि धर्म से ही अर्थ और काम दोनों की प्राप्ति होती है, **'धर्मादर्थश्च कामश्च किमर्थं न सेव्यते।**

इस संसार वृक्ष की रक्षा करने वाले पत्र के समान छन्द (वेद) माने गये हैं- **'छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।'** जैसे पत्र बिना वृक्ष नष्ट हो जाता है। तद्वत् वेदशास्त्र बिना तदुक्त कर्म का लोप होने से संसार का ही नाश हो जाता हैं। आजकल जो अनेक विध उपद्रव तथा अकाल पड़ते हैं, उनका कारण यही है कि यज्ञयागादि बहुत मात्रा में नष्ट हो गये। पुराणों में यह भी लिखा है कि यज्ञादिजन्य धूय से बनने वाला ही बादल उत्तम होता है।

उसी से स्वास्थ्यकर जल की वृष्टि होती है। अन्यान्य प्रकार के धूम जैसे आजकल विविध प्रकार के तेल कोयले आदि के धूम से भयंकर पत्थर तूफान आदि परिणाम होता है। इस तरह सब प्रकार की उन्नति में धर्म ही हेतु है। इस वास्ते भी शास्त्र-समाश्रयण की ही परमाश्यकता है ।

जिन कार्यों में लौकिक प्रयत्न हो जाते हैं, उन पशु पुत्र आरोग्यादि लौकिक फलों की प्राप्ति में भी शास्त्रीय उपायों का परमोपयोग है । साथ ही वेदादिशास्त्र का एक देश आयुर्वेद एवं ज्योतिष शास्त्र है, जिससे ही एकांश को लेकर विदेशी लोग आज कितनी उन्नति कर रहे हैं । यह बात विद्वानों ने सिद्ध कर दी है कि सब से प्राचीन ज्योतिष और चिकित्सा-शास्त्र भारत के ही हैं। इनसे हर तरह के रोग और उनके निदान एवं निवृत्तिका उपाय तथा औषधियों के नानाविध गुण जाने जाते हैं। धनुर्वेद, गांधर्ववेद आदि भी कितने लोग-व्यवहारोपयुक्त शस्त्र हैं, यह भी अभिज्ञों से तिरोहित नहीं है । अनेक प्रकार की नीति तथा व्यवसायों की उत्तमोत्तम पद्धतियां भी भारतादि इतिहास पुराण नीति-शास्त्रों में विद्यमान है। राजधर्म, शासन पद्धति विवादास्पद निर्णय, तत्त्वनिर्णयादि कौन सा ऐसा लोकोपयुक्त कार्य है जो हमारे शास्त्रों में नहीं है?

यह बात किसी भी विचारक से तिरोहित नहीं प्राणियों के स्वाभाविक वेग घोर अनर्थ के हेतु होते हैं। क्रोध या काम के वेग में आकर प्राणी भयंकर कार्य कर पीछे यथेष्ट पश्चाताप का भागी होता है। शास्त्र उन स्वाभाविक वेग को रोकने की भी एक अचूक दवा है। जब प्राणी दुष्कृत करता हुआ अत्यन्त अधोगति का अनुभव कर लेता, तब शास्त्रों की ही युक्तियों से शास्त्र की शरण जाकर शास्त्रों पदेशजन्य संस्कारों से संस्कृत होकर उस स्वाभाविक वेग को रोकने का प्रयत्न करता है। कोई प्रबल पुरुष किसी दुर्बल पुरुष

के वित्तकलत्रादि को अपहरण न करले, इसलिये भी कोई नियम आवश्यक हैं, जैसे राजा को प्रजा शासन करने की किसी पद्धति का समाश्रयण करना होता है, ठीक वैसे ही अनादिकालीन जीव रूपी प्रजा को शासन करने की जो अनादि पद्धति वेदशास्त्र है, उसी के अनुसार परमेश्वर निग्रह या अनुग्रह करते हैं। उस पद्धति को जान कर प्राणियों की उच्छृङ्खल प्रवृत्ति रुकती है और राष्ट्र विप्लव से बचता है। शास्त्रविहित वर्णाश्रमानुसार धर्म में परिनिष्ठिति होने से बेकारी, वैमनस्य आदि भी नहीं हो सकते। गान्धर्व स्थापत्यादि सर्वाधिक कलाकौशल शास्त्रों के आधार पर संपादन किये जा सकते है। धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र के आधार पर न्यायध्यक्षता, वकालत आदि सुचारू रूप से सम्पन्न हो सकती है, किंबहुना वर्तमान सर्व प्रकार की उन्नति की पद्धति से कहीं उत्तम पद्धति शास्त्रों के आधार पर की जा सकती है।

इस तरह लौकिक दृष्टि में शास्त्रविद्या माता के समान प्रजाओं की रक्षा करती है, पिता के समान हित में नियुक्त करती है, कान्ता के समान रमण करातीं, **'किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या'**- कल्प तलाके समान वेदविद्या क्या क्या नहीं संपादन करती?

दूसरी बात यह कि चार्वाकसमकक्ष (चार्वाक के तुल्य) अदूरदर्शी लोग लौकिक ही फल के अभिलाषुक होते हैं, दूरदर्शी बुद्धिमान तो पारलौकिक स्वर्गादि दिव्य सुख तथा ब्रह्मलोक या आत्मलोक की ही अभिलाषा करते हैं। उसकी प्राप्ति का साधन विविध प्रकार के कर्म, उपासना तथा तत्त्वज्ञान शास्त्रों में ही निर्दिष्ट हैं।

अतः लोककल्याण प्रचारक वेदवेदाँग का ज्ञान यथाक्रम अधिकारानुसार देशोद्धार के लिये परमावश्यक है।

पूज्य स्वामी श्री करपात्री जी महाराज के ग्रन्थ

वेदार्थपारिजात	५००.००
रामायण मीमांसा	२००.००
श्री विद्यारत्नाकर	१५०.००
मार्क्सवाद और राम-राज्य	५०.००
विचार पीयूष	१००.००
भक्ति-सुधा	१५०.००
चातुर्वर्ण्यसंस्कृतिविमर्श १-२	३०.००
श्री विद्यावरिवश्या	५०.००
वेद का स्वरूप और प्रामाण्य (२ भाग)	२५.००
अहमर्थ और परमार्थसार	२०.००
राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और हिन्दू धर्म भक्तिरसार्णव	२०.००
वेदस्वरूपविमर्श	२०.००
पूजीवादए समाजवाद और राम-राज	२०.००
संघर्ष और शान्ति	२०.००
क्या सम्भोग से समाधि	१५.००
राहुल जी की भ्रान्ति (प्रेस में)	——
वेदप्रामाण्यमीमांसा	५.००
तिथ्यादिनिर्णयः कुम्भनिर्णयश्च	५.००
धर्म और राजनीति	५.००
दशनामापराध	१०.००
ईश्वर साध्य एवं साधन	५.००
वेदान्त प्रश्नोत्तरी	१०.००
विभीषण शरणागति	१०.००
आस्तिक-नास्तिक वाद	१०.००
सङ्कीर्त्तन-मीमांसा एवं वर्णाश्रम-मर्यादा	२०.००

सङ्कीर्तन-मीमांसा
एवं
वर्णाश्रम-मर्यादा

धर्मसम्राट् :

श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज

सम्पादन :

स्वामी श्री सदानन्द सरस्वती

(श्री वेदान्ती स्वामी)